58/1-2

अनेकान्त

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में-

कहाँ/क्या?

वर्ष-58, किरण-1-2
जनवरी-जून 2005

सम्पादक :
डॉ. जयकुमार जैन
429, पटेल नगर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
फोन: (0131) 2603730

परामर्शदाता :
पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

सस्था की आजीवन सदस्यता 1100/-

वार्षिक शुल्क 30/-

इस अक का मूल्य 10/-

सदस्यो व मदिरो के लिए नि शुल्क

प्रकाशक :
भारतभूषण जैन, एडवोकट

मुद्रक :
मास्टर प्रिन्टर्स, दिल्ली-32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारो के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नही कि सम्पादक उनके विचारो से सहमत हो।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध सस्थान)

21, दरियागज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

सस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80-जी के अतर्गत आयकर मे छूट

(रजि आर 10591/62)
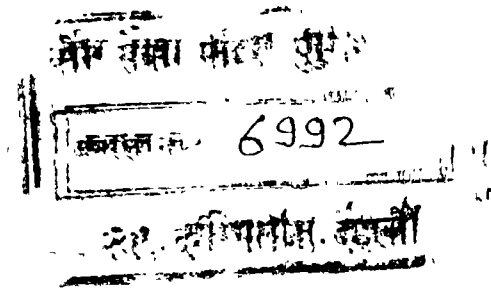
अध्यात्म-पद

सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि भायो।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

अशुचि, अचेत, दुष्ट तन माहीं, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरके, विषय रोग लिपटायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

चेतन नाम भयो जड़ काहे, अपनो नाम गँवायो।
तीन लोक को राज छांडिकै, भीख मांग न लजायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

मूढ़पना मिथ्या जब छूटै, तब तू संत कहायो।
'द्यानत' सुख अनन्त शिव बिलसो, यो सतगुरु बतायो।।
जीव! तैं मूढ़पना कित पायो?

–कविवर द्यानतराय

सम्पादकीय

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

किसी भी मंगल कार्य के पूर्व जैनधर्मावलम्बियों में उक्त श्लोक पढ़ने की परम्परा है। स्पष्ट है कि भगवान् महावीर और उनकी दिव्य वाणी के धारक एवं द्वादशांग आगम के प्रणेता गौतम गणधर के बाद जैन परम्परा में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को प्रधानता दी गई है। कुन्दकुन्दाचार्य श्रमण संस्कृति के उन्नायक, प्राकृत साहित्य के अग्रणी प्रतिभू, तर्कप्रधान आगमिक शैली में लिखे गये अध्यात्मविषयक साहित्य के युगप्रधान आचार्य हैं। अध्यात्म जैन वाङ्मय एवं प्राकृत साहित्य के विकास में उनका अप्रतिम योगदान रहा है। उनकी महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि उनके पश्चाद्वर्ती आचार्यो की परम्परा अपने को कुन्दकुन्दावयी या कुन्दकुन्दाम्नायी कहकर गौरवान्वित समझती है।

खेद की बात है कि कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी विशेष अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के अभाव में तथा अनुश्रुतियों/किंवदन्तियों में उलझा होने के कारण उनका प्रामाणिक इतिवृत्त उपलब्ध नही होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के विषय में अनेक अनुश्रुतियां प्रचलित हैं। विन्ध्यगिरि के एक शिलालेख के अनुसार उनके विषय में कहा जाता है कि वे चारण ऋद्धिधारी अतिशय ज्ञान सम्पन्न तपस्वी थे। चारण ऋद्धि के प्रभाव से वे पृथ्वी के चार अंगुल ऊपर गमन करते थे। इसके अतिरिक्त कुन्दकुन्दाचार्य के जीवन के विषय में दो अनुश्रुतियाँ प्रमुख रूप से प्राप्त होती हैं– (1) विदेहगमन और (2) गिरनार पर्वत पर दिगम्बर-श्वेताम्बर विवाद।

(1) विदेहगमन

आचार्य कुन्दकुन्द की विदेहगमन विषयक घटना का सर्वप्रथम उल्लेख

देवसेनकृत दर्शनसार में मिलता है। देवसेन ने दर्शनसार की रचना ईसा की 9-10वीं शताब्दी में की थी। अतः अन्य अभिलेखीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्राचीनता विश्वस्त है। इसके बाद जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की टीका में "प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणी श्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा....." (पञ्चास्तिकाय टीका) कहकर उनकी विदेहगमन विषयक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने इस घटना को 'प्रसिद्धकथान्यायेन' बतलाया है, जिससे पता चलता है कि उनके समय मे यह घटना अत्यंत प्रसिद्ध थी।

टीकाकार जससेनाचार्य का समय ईसा की 12वीं शताब्दी माना जाता है। इसके बाद 15-16 शताब्दी के षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य विद्वानो ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। शुभचन्द्र (1516-1556 ई.) की पट्टावली में भी इसका उल्लेख है।

उक्त उल्लेखों के आधार पर यह प्रसिद्धि है कि कुन्दकुन्द आचार्य विदेह क्षेत्र गये थे और वहाँ समवशरण में विराजमान तीर्थंकर श्रीमंदर (सीमंधर) स्वामी से उन्होंने दिव्यध्वनि का श्रवण किया था। **सामान्यतः यह नियम है कि कोई भी प्रमत्तसंयत मुनि अपने औदारिक शरीर से दूसरे क्षेत्र में नहीं जा सकता है।** आहारक शरीरधारी मुनि के लिए असंयम के निवारणार्थ यह नियम लागू नहीं होता है। किन्तु इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि कुन्दकुन्दाचार्य आहारक शरीरधारी थे। अतः कथा की विश्वसनीयता में सन्देह होने पर भी इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

(2) गिरनार विवाद

शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डवपुराण में गिरनार पर्वत पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के विवाद का उल्लेख करते हुए कुन्दकुदाचार्य का स्मरण इस प्रकार किया है—

"कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके ।
सोऽवतात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ।।"

(वे कुन्दकुन्द गणी रक्षा करें, जिन्होंने कलियुग में ऊर्जयन्त (गिरनार) पर्वत पर पाषाण से बनी हुई ब्राह्मी देवी को भी बुलवा दिया।) इसी प्रकार शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली में भी उल्लेख हुआ है। कवि वृन्दावन ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार कुन्दकुन्दाचार्य ससंघ गिरनार पर्वत गये। वहाँ पर श्वेताम्बरों से उनका विवाद हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्वरों ने अंबिका नामक देवी को अपना मध्यस्थ बनाया। देवी के प्रकट होकर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही के ग्रन्थों में यद्यपि गिरनार पर्वत के ऊपर विवाद होने के विवरण मिलते हैं। किन्तु कुन्दकुन्द के समय में कभी इस प्रकार के विवाद होने का उल्लेख नहीं मिलता है। शुभचन्द्र की गुर्वावली के अन्तिम श्लोकों में वलात्कारगण के प्रधान पद्मनन्दि मुनि को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ऊर्जयन्त पर्वत पर सरस्वती की मूर्ति को वुलवा दिया था। ऐसा लगता है कि शुभचन्द्राचार्य ने भी कुन्दकुन्द-पद्मनन्दि और बलात्कारगणीय पद्मनन्दि को भ्रान्तिवश एक समझ लिया और इस घटना का उल्लेख कर दिया है।

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में प्रचलित दोनों ही अनुश्रुतियाँ– विदेहगमन और गिरनार विवाद सत्य प्रतीत नहीं होती हैं।

इनके अतिरिक्त आचार्य कुदकुन्द के गृद्धपिच्छ नाम पड़ने के कारण के रूप में भी एक अनुश्रुति प्रचलित है। यह नाम विभिन्न शिलालेखों में एवं ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वामी (उमास्वाति) के लिए भी प्रयुक्त मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्य के गृद्धपिच्छ नाम पड़ने में वही किंवदन्ती कारण है, जिसके अनुसार विदेह क्षेत्र जाते समय आकाशमार्ग से कुन्दकुन्दाचार्य की मयूरपिच्छी नीचे गिर गई थी तथा बाद में उन्होंने मयूरपिच्छ न मिलने पर गृद्धपिच्छ धारण कर लिए थे। जैन मुनि संयम की रक्षा के लिए मयूरपिच्छी ही धारण करते है। गृद्धपिच्छ से तो संयम की रक्षा संभव ही नही है। इस किंवदन्ती में कोई दम नही है और यह कल्पित जान पड़ती है। क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि शास्त्रीय मान्यता के अनुसार प्रमत्तसंयत मुनि औदारिक शरीर से अन्य क्षेत्र में गमन नहीं कर सकता है। जव कुन्दकुन्दाचार्य

की विदेहगमनविषयक घटना ही शास्त्रसम्मत न होने से अविश्वसनीय है तो उस पर आधारित गृद्धपिच्छ नामकरण की घटना को विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बरत्व के विरोधियों द्वारा दिगम्बर परम्परा के शास्त्रों को अतथ्यपरक सिद्ध करने, अपने को कुन्दकुन्दाचार्य से भी पूर्व का सिद्ध करने तथा दिगम्बर मुनि के आचार को दूषित करने के लिए किया गया षड्यन्त्र रहा है। दिगम्बरों को आगम विरुद्ध किंचित् भी स्वीकार नहीं करना चाहिए।

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

— उन आप्त के मुख से निकले हुए जो पूर्वापर दोषों से रहित शुद्ध वचन है वह 'आगम' इस प्रकार कहे जाते हैं। उस कहे हुए आगम में तत्त्वार्थ होता है।

पाठकीय अभिमत–1

अनेकान्त जुलाई–दिसम्बर 2004 के पृष्ठ 2-5 में पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री की लेखनी से प्रसूत एक लेख छपा है– "दिगम्बरत्व को कैसे छला जा रहा है?" पंडित जी उन थोड़े से विद्वानों में हैं जिनने जैन धर्म व दर्शन शास्त्रों का बड़ी गहनता से अध्ययन किया है। पंडित जी अब दशम दशक की ओर बढ़ गए हैं। किन्तु फिर भी सतत चिन्तन करते रहते हैं। उनका प्राकृत भाषा का ज्ञान भी किसी से कम नहीं रहा है इसका पूरा परिचय उक्त लेख को पढ़ने से पूरी तरह साबित हो रहा है।

प्रसंग है कि क्या कुन्दकुन्द स्वामी अपरनाम पद्मनंदि आचार्य विदेह में विराजमान सीमंधर स्वामी से ज्ञानसम्बोधन प्राप्त करने गए थे। कुछ वर्षो पहले जब कुन्दकुन्द स्वामी का द्विसहस्राब्दि उत्सव मनाया गया था तब मैंने एक छोटी सी किताब लिखी थी "कुन्दकुन्द नाम व समय"। उसमें मैंने भी इस कथा पर प्रश्न उठाया था। इस प्रश्न का सही-सही जबाब अब मिल गया है। देवसेन द्वारा लिखित दर्शनसार संग्रह की निम्न गाथा–

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि–दिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।"

से, पंडितजी ने स्पष्टता व निर्भीकता के साथ निष्कर्ष निकाला है कि उक्त गाथा में "विवोहइ" शब्द से यह साबित हो रहा है कि पद्मनंदि आचार्य स्वयं सीमंधर थे और उनने अपने दिव्य ज्ञान के द्वारा श्रमणों को संबोधित किया था। चूंकि श्वेताम्बरों ने धर्म की सीमाओं का उल्लंघन कर दिया था अतः उन्होंने दिगम्बर धर्म की रक्षा के लिए आगमानुसार दिगम्बरत्व की सीमाओं का अवधारण किया और कराया। अतः इस गाथा के अनुसार पद्मनंदि स्वयं सीमंधर थे। यदि वे सीमंधर तीर्थकर के समवसरण में गए होते तो गाथा में 'विवोहिअ' शब्द होता।

उनका यह भी कहना है कि उक्तगाथा का गलत अर्थ करना तथा और भी कुछ अन्य बातें हैं जिनसे दिगम्वरत्व को नष्ट करने की सुनियोजित साजिश मालूम होती है।

इस नवीनतम दृष्टिकोण पर अन्य अधिकारी विद्वान् चिंतन-मनन व विश्लेषण करके हमारे जैसे अल्पश्रुतों का मार्ग दर्शन करेंगे ऐसी आशा है।

अवकाश प्राप्त न्यायमूर्ति
एम. एल. जैन, जयपुर

पाठकीय अभिमत–2

श्री पं. पद्मचन्द्र शास्त्री जी के दो लेख आचार्य कुन्दकुन्द के नाम तथा विदेहगमन के विषय में अनेकान्त में पढ़े। उन्होंने साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने दिगम्बर अम्नाय की पवित्रता, मौलिकता तथा पहचान की रक्षा के लिए आचागत मर्यादाओं का विधान किया। इसी कारण वे सीमंधर कहलाये। लेखक का यह विश्लेषण तर्कयुक्त तथा यथार्थ प्रतीत होता है। समाज बड़ा विचित्र है। वह चमत्कारों से कल्पित कथाओं से, नारों से, आतिशबाजी से, वेश तथा अजीबोगरीब रहन सहन से, पागलपन से बहुत प्रभावित होता है। यों देखा जाए तो प्रत्येक मनुष्य और प्राणी चमत्कारों से भरा है। अरबों व्यक्तियों के चेहरे अलग, आवाज अलग, चाल ढाल अलग क्या यह चमत्कार से कम है? हम इतने कुशल हैं कि प्रत्येक सन्त-महात्मा की महत्ता बढ़ाने के लिए उनके साथ चमत्कार की कथा जोड़ देते हैं। समय के साथ शब्दों के अर्थ और भाव बदल जाते हैं। अतिशयोक्तियाँ और चमत्कार हमारे अज्ञान के द्योतक ही हैं। छोटे बच्चे के लिए चूल्हे पर रोटी का फूलना भी चमत्कार ही है। इसलिए मैं लेखक को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने चमत्कार के नाम पर कुन्दकुन्द स्वामी की मर्यादा को, उनके आदर्श को बचाये रखा।

–जमनालाल जैन, सारनाथ

क्या आगम का आधार किंवदन्ती हो सकती है?

—पद्मचन्द्र शास्त्री

क्या तमाशा है मुझे कुछ लोग समझाने चले।
एक दीवाने के पीछे कितने दीवाने चले।।

पिछले अनेकान्त के अंको में हम 'विचारणीय' प्रसंग में 'आचार्य कुन्द-कुन्द स्वयं ही सीमंधर हैं' की चर्चा कर चुके हैं। हमें इस सम्बन्ध में किसी के नए कोई विचार नहीं मिले। हम यह स्पष्ट कर दें कि हमने सीमंधरसामिकुन्दकुन्द के विषय में जो लिखा है वह आगम विरोधी न होकर विदेहगमन की सहमति रखने वालों के लिए मार्ग दर्शन है। हमने अपने विचार प्राकृत कोषों और आगम की गाथा के मूलशब्दों को बदले बिना जैसे के तैसे दिए हैं। किसी व्याकरण से कोई प्रयोग जानबूझकर बदलना उचित नहीं समझा; वरना कुछ लोग कहते आगम को ही बदल दिया। अतः हमने प्राकृत कोष और गाथा के अनुसार वही शब्द दिया जो वहाँ है। आगम सम्मत विचारों को कोई बदल नहीं सकता।

यह तो सत्य है कि हम दिगम्बर मूल आचार्य पूज्य सीमंधरस्वामी कुन्दकुन्द के श्रद्धालु हैं और वे हमारे आराध्य हैं। दिगम्बरत्व और आगम में कोई विरोधी बात कैसे स्वीकार की जा सकती है। कोई दिगम्बर जैन आगम के विपरीत सोच भी कैसे सकता हैं?

जब हम आचार्य कुन्दकुन्द के विदेह जाने की बात सुनते हैं तो मन को ठेस लगना स्वभाविक है। किंवदन्तियों (जनश्रुतियों) चमत्कारों ने आगम को किनारे रखकर दिगम्बर तीर्थकर और मुनियों को भी नहीं वख्शा। जैसे एक किंवदन्ती हमारे समक्ष है जिसमें कहा गया है—

1. तीर्थकर सीमंधर स्वामी ने दिव्यध्वनि में आचार्य कुन्दकुन्द को आशीर्वाद दिया और प्रश्न के उत्तर में कुन्दकुन्द का नाम बतलाया।

2. देव भरत क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द को लेने आये।
3. आचार्य कुन्दकुन्द को विमान में बैठाकर ले गए।
4. उनकी पीछी गिर गई और गिद्ध का पंख ले लिया।
5. वे एक शास्त्र लाए जो कि आते समय लवण समुद्र में गिर गया।

उक्त सब बातें आगम से कहाँ मेल खाती हैं? शिलालेख भी कब किस आगम के अनुसार लिखे गए आदि। जब हम उक्त कथनों पर विचार करते हैं तो निम्नलिखित बाधायें खड़ी हो जाती हैं–

1. क्या दिव्यध्वनि में व्यक्तिगत आशीर्वाद, नाम कथन और प्रश्न के उत्तर देने का कहीं विधान है? जबकि दिव्यध्वनि में तत्त्वार्थ का विधान होने का कथन है। तथाहि–

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वारदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

–नियमसार, आचार्य कुन्दकुन्द

2. देव इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में कैसे आ गए? जबकि आगम में विधान है कि वे यहाँ नहीं आ सकते। तथाहि–

"अत्तो चारण मुणिणो, देवा विज्जाहरा य णायान्ति।"

–तिलोयपण्णत्ति (विशुद्धमति)

अर्थात् इस पंचम काल में यहाँ चारणऋद्धिधारी मुनि, देव और विद्याधर नहीं आते। परमात्म प्रकाश तथा भद्रबाहु चरित से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है। हमें किसी आगम में यह देखने को भी नहीं मिला की पंचम काल के प्रारम्भ में यह विधान लागू नहीं होता। यदि आगम में इसका कहीं उल्लेख है तो देखा जाए।

3. .क्या हमारे मूल आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी या अन्य कोई दिगम्बर मुनि विमान या किसी सवारी में बैठकर गमनागमन कर सकते हैं? दिगम्बर मुनि के विमान में बैठने की बात कहाँ तक सत्य है? किसी आगम ग्रंथ

में दिगम्बर मुनि का सवारी में बैठने का विधान नहीं है; तब विमान में बैठकर आचार्य कुन्दकुन्द का विदेह जाने का कथन करना कहीं उनको लांछन लगाना और दिगम्बर वेश को बदनाम करने का सुनियोजित षड्यन्त्र तो नहीं? उक्त कथन दिगम्बरत्व की हानि करने का प्रयत्न मात्र लगता है।

4. मुनि का पीछी बिना गमनागमन कहाँ तक उचित है? पीछी के अभाव में गिद्ध पंख कहाँ और कितनी दूर मिला; जबकि गिद्ध पंख छोड़ता ही नहीं। गिद्ध पंख और मयूर पंख में महत् अन्तर होता है। मयूर पंख इतना कोमल होता है कि ऑख में फिराने पर कोई नुकसान नहीं होता। वह जीव रक्षा के लिए सर्वथा अनुकूल है। जबकि गिद्ध पंख अत्यन्त कर्कश और खुरदरा होता है उससे चींटी आदि का मरण संभव तो है बचाव नहीं। ऐसे में गिद्ध पीछी का ग्रहण किस आगम सम्मत है?

5. किंवदन्ती में कथन है कि विदेह से लौटते समय आचार्य कुन्दकुन्द एक शास्त्र भी लाए। शास्त्र में राजनीति, मंत्र आदि का विशद वर्णन था। आते समय वह शास्त्र लवण समुद्र में गिर गया।

विचारणीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आंध्यात्मिक आचार्य शंका समाधान के पश्चात् विदेह से शास्त्र भी लाए और वह भी राजनीति एवं मंत्रों के वर्णन वाला। जौ देव विमान में लेकर आए थे उन्होंने शास्त्र की रक्षा क्यों नहीं की। जबकि वे ऐसा कर सकते थे।

ऐसी अन्य भी बहुत सी किंवदन्तियां होंगी जो हमें देखने को नहीं मिलीं। समक्ष आने पर सोचेंगे और लिखेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द को कोई ऋद्धि आदि प्राप्त थी इसका भी किसी आगम में प्रमाण नहीं मिलता। हम टीकाकारों के आगम सम्मत कथनों को पूर्ण सत्य मानते हैं। यही बात शिलालेखों के संबंध में भी है। वे भी आगम सम्मत होने चाहिए।

हमें तो आश्चर्य तब भी होता है जब आचार्य कुन्दकुन्द ने विहेद गमन के वृत्तान्त को कहीं स्वीकार नहीं किया जबकि उनकी विदेह यात्रा उनके जीवन

की विशिष्ट घटना थी। आचार्य महाराज ने ना ही कहीं सीमंधर स्वामी का स्मरण कर उनके उपकार को स्वीकार किया जो कि उनका मुख्य कर्तव्य था। इसके विपरीत वे बारम्बार श्रुतकेवली का ही गुणगान करते रहे जो कि पद में तीर्थकर से लघु होते हैं। इस सबसे सिद्ध होता है कि विदेह गमन की घटना बाद में गढ़ी गई है। उनकी इस मौन भाषा को दिगम्बर ही न समझें तो इससे बड़ी बिडम्बना और क्या हो सकती है?

हमें अपने पूर्व विद्वानों पर भी आश्चर्य होता है कि वे किंवदन्तियों की प्राचीनता लिखते रहे जबकि उन्हें तो ऐसी किंवदन्तियों को आगम की कसौटी पर कसकर उनका विश्लेषण करना चाहिए था। कहा भी है– "पुराणमित्येव न साधु सर्व।" यदि वे ऐसा करते तो किंवदन्तियों का दुःखदाई आगम घातक प्रसंग आज उपस्थित नहीं होता जो हमारे समक्ष आ रहा है।

हमारा विश्वास है कि इस संबंध की किंवदन्तियां कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बरत्व और कुन्दकुन्दाचार्य को बदनाम करने के लिए दिगम्बरत्व विरोधियों द्वारा प्रचार में लाई गई। विद्वेषियों द्वारा जिसका स्वरूप समझ आने लगा है। समाज आगे सचेत रहे। कहीं "विषकुम्भं पयोमुखम्" के घेरे में ना जाए। सत्य के उद्भावन (प्रकटीकरण) से समाज टूटता नहीं है, न उसका विश्वास कम होता है। इससे तो सम्यक्त्व के निःशंकित तथा अमूढ़दृष्टि जैसे अंगों में दृढ़ता आती है। समाज तो आपसी विद्वेष, धर्म की आढ में स्वार्थो की पूर्ति से टूटता है।

–वीर सेवा मन्दिर
4674/21 दरियागंज
नई दिल्ली-110002

सीमन्धर कुन्दकुन्द

—डॉ. नंदलाल जैन

अमृतचन्द्र और उत्तरवर्ती जयसेन के द्वारा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की टीकाओं के कारण कुन्दकुन्द और उनकी विचारधारा प्रकाश में आई। बीसवीं सदी तक कुन्दकुन्द की महान् प्रतिष्ठा थी। संभवतः इसका कारण इनके ग्रंथों को श्रावक—पाठ्य न मानने की धारणा और प्रचण्ड गुरुभक्ति रही होगी। इसी कारण, मंगल श्लोक में भी उनका स्मरण किया गया। इस मंगल श्लोक की परम्परा कब से चालू हुई, यह कहना कठिन है, पर यह "मंगलं स्थूलभद्राद्यो" के बाद की ही होगी क्योंकि स्थूलभद्र तो 411-312 ईसा-पूर्व के आचार्य हैं और कुन्दकुन्द तो सभी विद्वानों के मत से पर्याप्त उत्तरवर्ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मंगल श्लोक इनके ग्रंथों की टीका के समय से प्रचलित हुआ होगा क्योंकि इनके पूर्व भी आचार्य भद्रबाहु आदि अनेक प्रतिभाशाली दिगम्बरत्व प्रतिष्ठापक आचार्य हुये हैं। उनका विस्मरण कर कुन्दकुन्द को प्रतिष्ठित करना किंचित् समझ से परे तो लगता है, पर यह उनकी सैद्धांतिक एवं संघाचार्य की निपुणता को व्यक्त करता है। फिर भी, उनके इतनी सदियों तक विस्मृत रहने में संभवतः उनकी अप्रवाह्यमान विचारधारा ही कारण रही होगी।

तथापि जिनभक्ति के प्रभाव में कुन्दकुन्द ने किसी भी ग्रन्थ में अपना जीवन-वृत्त नहीं दिया। उनके ग्रन्थ 'श्रुतकेवली भणित' के प्रतिपादक हैं और वे भद्रबाहु को अपना गमक (परम्परया) गुरु मानते हैं। इस इतिहास—निरपेक्षता के कारण जबसे वे विद्वत् जगत के अध्ययन के विषय बने, तभी से श्री मुख्तार, उपाध्ये, के. बी. पाठक, प्रेमी, ढाकी व अनेक विदेशी विद्वानों ने उनके जीवन के सभी पक्षों—जन्म स्थान (लगभग निश्चित), माता-पिता (वैश्य वंशज), शिक्षा-दीक्षा (दो गुरु), साधुत्व एवं आचार्यत्व (लगभग 44 वर्ष) आदि पर विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। तीर्थकरों के जीवन की देवकृत चमत्कारिकता

के समान उनके जीवन में भी चारण-ऋद्धित्व एवं विदेह गमन का विवरण आया (इनका विशेष आधार नहीं मिलता)। वस्तुतः वे मानव से अतिमानव मान लिये गये। इस पर अभी तक किसी ने प्रकाश नहीं डाला।

इन मतवादों के साथ उनके निश्चय-व्यवहारगत समयसारी विवरण तथा उनके साहित्य की भाषा के स्वरूप आदि के कारण भी अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। उनके श्वेताम्बरों से शास्त्रार्थ, स्त्रीमुक्ति निषेध, अचेलकत्व--समर्थन तथा टीका ग्रंथो आदि के कारण उनके समय-निर्णय पर भी अभी भी असहमति बनी हुई है। यह प्रथम सदी से सातवीं सदी तक माना जाता है। सामान्य परम्परा के अनुसार, अनेक मूलग्रन्थों की टीकायें उनकी रचना के अधिकाधिक तीन-चार सौ वर्ष के अन्तराल से हुई हैं, जैसा सारणी-1 से प्रकट है।

सारणी 1 : मूलग्रन्थ और उनकी टीकाओं का रचनाकाल

क्र	मूल ग्रन्थ	रचनाकाल लगभग	टीका	टीकाकाल लगभग
01	कषायपाहुड	1-2री सदी	यतिवृषभ चूर्णि	5-6वी सदी
02	षट्खण्डागम	1-2री सदी	पद्धति	3री सदी
03	तत्वार्थसूत्र	3-4थी सदी	सवार्थसिद्धि	5वीं सदी
04	भगवती आराधना	2-3री सदी	आराधना पंजिका	4थी सदी
05	मूलाचार	2-3री सदी	वसुनंदि	11वी सदी
06	कुन्दकुन्द ग्रथत्रय	2-3री सदी	दो टीकाये	10-11वी सदी
07	श्वेताबर आगम सकलन	5वी सदी	प्रथम व्याख्या साहित्य	6वी सदी
08.	परीक्षामुख	10-11वीं सदी	प्रमेयकमलमार्तण्ड	11वी सदी

इस आधार पर कुन्दकुन्द के समय का अनुमान लगाया जा सकता है।

उनके समयसार ने तो जैनों का एक नया पंथ ही खडा कर दिया है जो उनके अनेक कथनों के बावजूद भी एकपक्षीय बन गया है। वस्तुतः अनेकांतवादी जैन अपने-अपने पक्ष के एकांतवादी हो गये हैं और महावीर के नाम पर उनके दर्शन को ही विदलित करते जा रहे हैं। अनेक विद्वानों ने उनके निश्चय-व्यवहार की समन्वय-वादिता पर विवरण दिये हैं। पर निश्चय तो अटल एवं अनिर्वचनीय होता है, केवलज्ञान गम्य होता है। उसे गृहस्थ कैसे समझे और अनुभव में

लाये? हाँ, निश्चय व्यक्ति को एक सुहावने कल्पना लोक या स्वप्न लोक में ले जाता है, संभवतः कल्पना के मूर्त रूप लेने के प्रति आशावादी भी बनाता है। यह स्थिति श्वेतकेशियों के अनुरूप अधिक है। कृष्णकेशियों का अनुभव इसके विपरीत है। पर ऑख खोलते ही व्यावहारिक जगत सामने आ जाता है एवं सांबरत्व में ही 'नेति, नेति' की निश्चयी दृष्टि और दशा प्राप्ति का अनुभव करने लगते हैं। फलतः, वे स्वयं को केवली ही मान लेते हैं। शास्त्रीजी ने इस मान्यता को विसंगत एवं दिगम्बर मत के विरुद्ध बताया है क्योंकि तिल-तुष मात्र परिग्रही आत्मा को नहीं जान पाता। शुद्ध और शुभ का चक्कर भी भयंकर है जो सामान्य जन की समझ से परे लगता है।

इस विषय में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री ने कुन्दकुन्द की, कोलायडी स्थिति में, दिगम्बरत्व—प्रतिष्ठापक के रूप में प्रशस्ति करते हुए उनके सिद्धान्तों को सही रूप में लेने का संकेत किया है। महावीर के सिद्धान्तों में निश्चय और व्यवहार की सीमाओं का संधारण करने के कारण उनके लिये सीमंधर (सीमाधर) शब्द के उपयोग को सार्थक बताया है और आचार्य कुन्दकुन्द की विदेह गमन एवं सीमंधर-स्वामी के उपदेश की चमत्कारिक जन-श्रुति या किंवदन्ती को भक्ति-अतिरेक का आकर्षण माना है। उन्होंने सीमंधर शब्द के इस अर्थ को 'अभिधान राजेन्द्र कोश' से भी पुष्ट किया है। उनकी यह मान्यता गंभीर विचार चाहती है। इस विषय में उनके तर्क भी शोधपरक हैं ये निम्नलिखित हैं–

01. कुन्दकुन्द ने कहीं भी सीमंधर स्वामी के उपकार का स्मरण नहीं किया है।
02. कुन्दकुन्द अपने ग्रंथों में सदैव श्रुतकेवली व गमक गुरु का स्मरण करते हैं जिनका पद तीर्थकर से लघुतर है।
03. पंचमकाल में चारण ऋद्धि नहीं होती। तथापि, फडकुले जी कुंदकुंद के प्रकरण में इसे आपवादिक मानते हैं। यह विचारणीय विषय है। जिनेन्द्र वर्णी भी इसे आग्रह-हीन मानते हैं।
04. विदेह-गमन की चर्चा भी इस विषय में अनेक मुनिचर्या-विरोधी प्रसंग उपस्थित करती है।
05. देवसेन के दर्शनसार की गाथा 43 में 'सीमंधरसामि' शब्द पद्मनंदि का विशेषण है, इसे सीमंधर स्वामी तीर्थकर मान लेने के कारण अनेक

भ्रांतियां उत्पन्न हुई हैं। इस अर्थ से विदेह-गमन की चमत्कारिकता भी निरस्त होती है।

06. उक्त गाथा 43 में 'विवोहइ' शब्द भी इस धारणा को पुष्ट करता है।
07. आगम में 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' का सूत्र भी इन धारणाओं का समर्थक नहीं है। यह स्थिति छद्मस्थ की नहीं होती।
08. समयसार गाथा 14 में निश्चय-व्यवहार का स्पष्ट अभिलेख है। अन्यत्र यह भी उल्लेख है कि अज्ञ जनों को उनकी भाषा में ही उपदेश देना चाहिये अर्थात् हमें व्यवहारवादी भी होना चाहिये।

मुझे लगता है कि निश्चय-मानी भी कुन्दकुन्द के 'चारित्तं खलु धम्मो' एवं 'दंसण–णाण–चरित्ताणि सेविदव्वाणि' के सिद्धान्तों को स्वीकार कर अध्यात्मोन्मुखी बनने का प्रयास करते हैं। वे भी मंदिर निर्माण, वेदी व पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, पूजन, शाकाहार आदि व्यावहारिक कार्यो में संलग्न रहते हैं। ये प्रक्रियायें निश्चयवाद की प्रेरक हैं, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार, वे व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ नहीं कह सकते। कुन्दकुन्द के इसी समन्वित दृष्टिकोण ने उन्हें इतना प्रभावी बनाया है।

उपरोक्त बिन्दुओं में पर्याप्त बौद्धिक विश्लेषण तथा सार्थक संकेत हैं। इनके समुचित आलोडन से कुन्दकुन्द के जीवन की चमत्कारिकता तो दूर होती है, पर उनके उपदेशों की तथा उनकी गरिमा भी प्रतिष्ठित होती है। चमत्कारिकताओं के भीतर छिपे अतिरेकी रहस्य का उद्घाटन आज के युग की मांग है। मुझे विश्वास है कि विद्वत्जन इस विषय में समुचित विचार कर कुन्दकुन्द के जीवन को लौकिक रूप में ढालकर उसे और भी प्रभावशाली बनायेंगे एवं उनका ही सीमंधरत्व स्वीकार करेंगे।

सन्दर्भ

1 जिनेन्द्र वर्णी : जैनेन्द्र सिद्धात कोष-2, भारतीय ज्ञानपीठ, 1974, पेज 126-28।
2. जैन, एन. एल : पं जगन्मोहनलाल शास्त्री, साधुवाद ग्रंथ, जैन केन्द्र, रीवा आदि, 1989, पे. 97-98।
3. शास्त्री, पद्मचंद्र, मूल जैन–संस्कृति–अपरिग्रह, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, 2005, पेज 44-48।
4. 'समयसार' और 'दर्शनसार'।

–जैन सेन्टर, रीवा (म. प्र.)

रत्नकरण्डश्रावकाचार का समीक्षात्मक अनुशीलन

—डॉ. कमलेश कुमार जैन

श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनिद्यवन्द्य—
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्।।

जैन धर्म, दर्शन और न्याय के उद्भट विद्वान् आचार्य समन्तभद्र का जन्म विक्रम की दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध[1] में उरगपुर में हुआ था। वे काञ्ची के सुप्रसिद्ध शासक कदम्बवंशीय ककुत्यवर्मन् के पुत्र थे। उनका गृहस्थावस्था का नाम शान्तिवर्मन् था। वही शान्तिवर्मन आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में बलाकपिच्छाचार्य से दीक्षित होकर पहले मुनि समन्तभद्र और बाद में आचार्य समन्तभद्र के नाम से प्रसिद्ध हुए।

'राजबलिकथे' के एक उल्लेखानुसार मुनि समन्तभद्र को मणुवकहल्ली नामक ग्राम में भस्मक व्याधि हो गई थी। इस व्याधि का शमन पौष्टिक और गरिष्ठ भोजन से ही सम्भव था, किन्तु मुनिचर्या का पालन करते हुये ऐसा भोजन प्रायः दुर्लभ था। अतः उन्होनें अपने गुरु से समाधिकरण की याचना की, किन्तु निमित्तज्ञानी गुरु के द्वारा यह जानकर कि इस मुनि से धर्म की अत्यधिक प्रभावना होने की संभावना है। उन्होंने व्याधि से मुक्त होने के लिये उन्हें मुनि पद से मुक्त कर दिया तथा व्याधि-शमन करने हेतु कार्यकारी उपाय करने का निर्देश दिया। फलस्वरूप वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुये काशी के राजा शिवकोटि के राजदरबार में आये और घोषणा कर दी कि वे शिवमूर्ति को सम्पूर्ण भोग-सामग्री खिला सकते हैं। राजा ने उनसे प्रभावित होकर उन्हें शिव मन्दिर में नियुक्त कर दिया। मुनि समन्तभद्र प्रच्छन्न रूप से वह भोग-सामग्री स्वयं खाने लगे। धीरे-धीरे रोग का शमन होने लगा जिससे

भोग-सामग्री भी बचने लगी। तब लोगों को सन्देह हुआ और वे पकड़े गये। बाद में राजा ने शिवमूर्ति को नमस्कार करने का आदेश दिया। स्वामी समन्तभद्र सच्चे सम्यग्दृष्टि थे। अतः उन्होंने ध्यानस्थ हो चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति करना प्रारम्भ की। फलस्वरूप आठवें तीर्थङ्कर भगवान् चन्द्रप्रभ की भक्ति करते हुये भावों का ऐसा उद्रेक हुआ कि शिवमूर्ति उसे सहन नहीं कर सकी और शिवमूर्ति बीच से फट गई तथा उसमें से चन्द्रप्रभु की मूर्ति प्रकट हो गई।

आचार्य समन्तभद्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होने शताब्दियों पूर्व तर्क की कसौटी पर कसकर विविध सम्प्रदायों के अनेक आचार्यो/विद्वानों के समक्ष जैनधर्म की जो ध्वजा फहराई है, वह आज भी अपने अतीत के गौरव को रेखाङ्कित करती है और उत्तरवर्ती पीढ़ी को एक नवीन दिशा प्रदान करती हे। परवर्ती जैनन्याय शास्त्र की प्रतिष्ठा आचार्य समन्तभद्र के द्वारा स्थापित मापदण्डों का विकसित रूप है। समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसा पर आचार्य अकलङ्कदेव द्वारा लिखित अष्टशती टीका और उसको समाहित करते हुये उसी पर आचार्य विद्यानन्द द्वारा अंष्टसहस्री टीका का लिखा जाना इस बात का सूचक है कि जैनन्याय विद्या के क्षेत्र में आचार्य समन्तभद्र ने जो मानक स्थापित किये हैं, वे आज भी मील के पत्थर के समान अडिग हैं। क्योंकि परवर्ती आचार्यो ने प्रायः उन्हीं तर्को को आधार बनाकर अपनी कृतियों का प्रणयन किया है।

ऐसे महनीय व्यक्तित्व के धनी आचार्य समन्तभद्र ने 1. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, 2. आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र), 3. स्तुति विद्या (जिनशतक), 4. युक्त्यनुशासन और 5. रत्नकरण्डश्रावकाचार– इन पाँच ग्रन्थों की रचना की है, जो आज भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त 1. जीवसिद्धि, 2. तत्त्वानुशासन, 3. प्रमाणपदार्थ, 4. गन्धहस्ति महाभाष्य, 5. कर्मप्राभृत टीका और 6. प्राकृत व्याकरण इन छह ग्रन्थों के रचने का उल्लेख मिलता है।[2]

आचार्य समन्तभद्र के उपलब्ध उपर्युक्त पाँच ग्रन्थों में प्रथम चार ग्रन्थ यद्यपि स्तुतिपरक हैं, किन्तु स्तुति के व्याज से उन्होंने जैन सिद्धान्तों का जो

प्ररूपण किया है, वह अद्वितीय है और उन्हें एक उत्कृष्ट दार्शनिक आचार्य के रूप में स्थापित करता है। जैन तर्कविद्या के वे प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने अपनी इसी तार्किक बुद्धि के आधार पर विभिन्न नगरों में विचरण करते हुये अनेक विद्वानों को पराजित किया था, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोल के 54वें शिलालेख में इस प्रकार अङ्कित है–

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।[3]

पं. जुगलकिशोर मुख्तार ने स्वामी समन्तभद्र पर विस्तार से विचार किया है।[4]

आचार्य समन्तभद्र ने उपर्युक्त जिन कृतियों का लेखन किया है, उनमें श्रावक के आचार का विस्तार से विवेचन करने वाली उनकी एक मात्र कृति रत्नकरण्डश्रावकाचार है। पं. पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य ने इसे उपलब्ध श्रावकाचारों में सबसे प्राचीन और सुसम्बद्ध श्रावकाचार माना है।[5] जो वस्तुतः सत्य एवं तथ्य है। इससे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्रपाहुड में श्रावकाचार सम्बन्धी विवेचन मात्र छह गाथाओं में उपलब्ध है, जिसमें चारित्र के सम्यक्त्वचरण चारित्र और संयमचरण चारित्र—ये दो भेद किये हैं।[6] पुनः संयमचरण चारित्र के दो भेद किये हैं—सागार और निरागार। इनमें सागार चारित्र गृहस्थ के एवं निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनि के होता है।[7] इसी क्रम में आचार्य कुन्दकुन्द ने सागार (श्रावक) की ग्यारह प्रतिमाओं और श्रावक के बारह व्रतों का मात्र नामोल्लेख किया है।[8] आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के सप्तम अध्याय में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँच पापों से विरत होने को व्रत कहा है[9] तथा शल्य रहित को व्रती कहा है।[10] तदनन्तर व्रती के दो भेद– अगारी और अनगार करके अणुव्रतों के धारक को अगारी (श्रावक) कहा है। पुनः सप्तशीलों और सल्लेखना का नामोल्लेख करके पाँच व्रतों, सप्तशीलों और सल्लेखना के पाँच-पॉच अतिचारो का उल्लेख किया

है। अन्त में श्रावक के षडावश्यकों में से एक महत्त्वपूर्ण आवश्यक कर्म दान का उल्लेख किया है।[11]

आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य उमास्वामी के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकाचार का गम्भीर और साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है, जो विविध श्रावकाचारों के मध्य एक दीप-स्तम्भ की तरह आज भी बेजोड़ है। उसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

आचार्य समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड्श्रावकाचार में 150 श्लोक हैं। यह पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रारम्भ में सर्वप्रथम वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके कर्मो का नाश करने वाले उस समीचीन धर्म का उपदेश करने की प्रतिज्ञा की है, जो जीवों को संसार के दु:खों से निकालकर स्वर्ग-मोक्षादि रूप उत्तम सुख में स्थापित करता है और ऐसे धर्म की बढ़ते क्रम से तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीनों भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित हैं।

इनमें से परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु का तीन मूढ़ताओं से रहित, आठ अङ्गों सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित होकर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आप्त नियम से जन्म-जरा आदि अठारह दोषों से रहित, सर्वज्ञ और आगम का स्वामी होता है। आगम की विशेषता यह होती है कि वह भगवान् जिनेन्द्र देव के द्वारा कथित होता है। अन्य मतावलम्बियों द्वारा खण्डित नहीं होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों के द्वारा विरोध रहित होता है। तत्त्वों का उपदेश करने वाला, सबका हितकारी और मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला होता है। गुरु–विषयों की आशा, आरम्भ और परिग्रह से रहित होता है तथा ज्ञान, ध्यान और तप यें तल्लीन रहता है। ऐसे आप्त, आगम और गुरु का नि:शङ्कित, नि:काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगू[illegible] स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना–इन आठ अङ्गों सहित श्रद्धान [illegible] आवश्यक है। इनमें से एक अङ्ग की भी न्यूनता नहीं होनी चाहिये, अ[illegible] जिस प्रकार एक अक्षर रहित मन्त्र विष की वेदना को नाश करने में समर्थ [illegible] होता है, वैसे ही अङ्गहीन सम्यग्दर्शन जन्म-सन्तति को नष्ट करने में समर्थ न[illegible]

होता है।

यह सम्यग्दर्शन जहाँ आठ अङ्गों सहित होता है, वहीं लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और पाखण्डिमूढ़ता (गुरुमूढ़ता)– इन तीन मूढ़ताओं तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर–इन आठ के आश्रय से होने वाले मदों से रहित होता है। उपर्युक्त मदों से उन्मत्त चित्त वाला पुरुष यदि रत्नत्रय रूप धर्म में स्थित जीवों को तिरस्कृत करता है तो वह अपने धर्म को ही तिरस्कृत करता है। क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है। अतः धर्मात्माओं का तिरस्कार करना उचित नहीं है।

ज्ञानादि मदों के न करने की सलाह इसलिये भी आचार्य समन्तभद्र दे रहे हैं कि भाई! यदि पाप को रोकने वाली रत्नत्रय रूप धर्म तेरे पास है तो अन्य सम्पत्तियों से तुझे क्या लेना-देना? सुख की प्राप्ति तुझे स्वतः होगी ही और यदि मिथ्यात्व आदि पापों का आस्रव है तो भी अन्य सम्पत्तियो से क्या लेना-देना? क्योंकि पापास्रव के फलस्वरूप तुझे दुःख की प्राप्ति होनी ही है। वस्तुतः धर्म और अधर्म ही क्रमशः सुख और दुःख के कारण हैं। ज्ञानादि का मद सुख का कारण नहीं है।

एक मात्र सम्यग्दर्शन से युक्त चाण्डाल भी ढकी हुई अग्नि के समान तेजस्वी होता है और देवताओं के द्वारा पूज्य भी। अधिक क्या कहें? धर्म के कारण कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा और लोभ के वशीभूत होकर कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र का सम्मान नहीं करता है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान है। क्योंकि इसके अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं स्वर्ग-मोक्षादि रूप फल की प्राप्ति वैसे ही नहीं होती है जैसे बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं होती है।

मोही मुनि से मोक्षमार्ग में स्थित निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। इसीलिये तो यह कथन यथार्थ है कि सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान विनाशकारी तीनों लोकों और तीनों कालों में कोई अन्य वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन का माहात्म्य तो यह है कि अव्रती सम्यग्दृष्टि भी नारक, तिर्यञ्च,

नपुंसक, स्त्रीपने तथा खोटे कुल, विकलाङ्गता, अल्पायु और दरिद्रपने को प्राप्त नहीं होता है, अपितु ओजादि से सम्पन्न मनुष्यों में श्रेष्ठ होता है और स्वर्ग के इन्द्रादि पदों को प्राप्त करता है तथा नवनिधि और चौदह रत्नों के स्वामी चक्रवर्ती पद को प्राप्तकर अन्त में रत्नत्रय के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट सुख के स्थान मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

पदार्थ को न्यूनता और अधिकता से रहित ज्यों का त्यों विपरीतता रहित और सन्देह रहित जानना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान विषय की अपेक्षा से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग– इन चार अनुयोगों में विभक्त है। एक पुरुष के आश्रित होने वाली कथा चरित है और त्रेसठशलाका पुरुषों के आश्रित कही जाने वाली कथा पुराण है। इन पुण्यवर्द्धक कथाओं तथा बोधि और समाधि को प्राप्त कराने का खजाना जिसमें हो वह कथा साहित्य प्रथमानुयोग है। लोक और अलोक के विभाग, युगों के परिवर्तन और चतुर्गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रकाशित करने वाला साहित्य करणानुयोग है। गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का विवेचन करने वाला साहित्य चरणानुयोग है तथा जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध मोक्ष आदि का विवेचन करने वाला साहित्य द्रव्यानुयोग है।

मोह रूपी अन्धकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे भव्य जीव के द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति के लिये धारण किया जाने वाला चारित्र है। यह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की निवृत्ति से होता है। सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना सकल चारित्र है और एकदेश परिग्रह का त्याग करना विकलचारित्र है, जो क्रमशः मुनियों और श्रावकों को होता है। उनमें गृहस्थों के होने वाला विकलचारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप है। इनके क्रमशः पाँच, तीन और चार भेद हैं। हिंसादि पाँच पापों का स्थूल रूप से त्याग करना अणुव्रत है। तीनों योगों के कृत, कारित और अनुमोदन रूप संकल्प से त्रस जीवों की हिंसा न करना स्थूलहिंसा त्याग रूप अहिंसाणुव्रत है। छेदना, बाँधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना और आहार रोकना–ये पाँच इसके अतिचार हैं। इसी प्रकार स्थूल झूठ

न स्वयं बोलना और न दूसरों से बुलवाना तथा ऐसा सत्य भी न स्वयं बोलना है और न दूसरों से बुलवाना है जो दूसरों के प्राणघात के लिये हो वह स्थूल झूठ त्याग रूप सत्याणुव्रत है। मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख लिखना और धरोहर को हड़पना-ये पॉच इसके अतिचार हैं। किसी की रखी हुई, गिरी हुई अथवा भूली हुई वस्तु को बिना दिये हुये न स्वयं ग्रहण करना और न उठाकर दूसरों को देना स्थूल स्तेय परित्याग रूप अचौर्याणुव्रत है। चौर प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृश मिश्रण और हीनाधिक विनिमान–.ये पॉच इसके अतिचार हैं। पाप के भय से न स्वयं परस्त्री का गमन करना और न दूसरों को कराना परस्त्री त्याग रूप स्वदारसन्तोप नाम का अणुव्रत है। अन्यविवाहकरण, अनङ्गक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृपा और इत्वरिकागमन– ये पॉच इसके अतिचार हैं। धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक वस्तुओं में इच्छा न करना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम का अणुव्रत है। अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारारोपण ये पाँच इसके अतिचार हैं। इन पॉच अणुव्रतों का अतिचार रहित पालन करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

इसी क्रम में आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के आठ मूलगुणों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मद्य, मांस और मधु–इन तीन मकारों के त्याग के साथ पॉच अणुव्रतों का पालन करना–ये आठ. श्रावक के मूलगुण हैं।

मूलगुणों की वृद्धि करने वाले दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत– ये तीन गुणव्रत हैं। सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में प्रसिद्ध नदी, समुद्र आदि के बाहर आजीवन न जाने की प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है। प्रमादवश ऊपर, नीचे अथवा तिर्यग् दिशा का उल्लंघन करना, क्षेत्रवृद्धि करना और कृतमर्यादा का विस्मरण करना– ये पाँच उसके अतिचार हैं।

दिग्व्रत में की गई मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगों से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या–ये पाँच अनर्थदण्ड हैं। पशुओं को कष्ट पहुँचाने वाली क्रियायें,

व्यापार, हिंसा, आरम्भ और ठगविद्या आदि की कथाओं के प्रसङ्ग उपस्थित करना पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। फरसा, तलवार, कुदाली, अग्नि, हथियार, विष और जंजीर आदि हिंसा के हेतुओं का दान करना हिंसादान है। द्वेषवशात् किसी प्राणी के वध, बन्धन और छेद आदि का तथा रागवशात् परस्त्री आदि का चिन्तन अपध्यान है। आरम्भ परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, अहंकार और काम के द्वारा चित्त को कलुषित करने वाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति है। बिना प्रयोजन के पृथिवी, जल, अग्नि और वायु का आरम्भ करना, वनस्पति का छेदना, स्वयं घूमना और दूसरों को घुमाना प्रमादचर्या है। राग के वशीभूत हास-परिहास में गन्दे शब्दों का प्रयोग करना, शरीर की कुचेष्टा करना, अधिक बोलना, भोगोपभोग सम्बन्धी सामग्री का अधिक मात्रा में संग्रह करना और निष्प्रयोजन बिना विचारे किसी कार्य को प्रारम्भ करना— ये पाँच अनर्थदण्डविरति व्रत के अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाणव्रत की सीमा के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आसक्ति को कृश करने के लिये प्रयोजनभूत भी इन्द्रिय-विषयों का परिसीमन करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। अणुव्रती को प्रमाद से बचने के लिये मद्य, मांस, मधु और बहुत हिंसा होने से मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल और केवड़ा के फूल आदि का त्याग कर देना चाहिये। साथ ही अहितकारी और गोमूत्रादि अनुपसेव्य वस्तुओं का भी त्याग कर देना चाहिये। इन वस्तुओं का जब आजीवन त्याग किया जाता है तो वह यम कहलाता है और जब एक निश्चित अवधि के लिये त्याग किया जाता है तो वह नियम कहलाता है। विषय रूपी विष में आदर रखना, भोगे हुये विषयों का पुनः पुनः स्मरण करना, वर्तमान भोगों में अधिक आकांक्षा रखना, आगामी विषयों में अधिक तृष्णा रखना और वर्तमान विषयो का अति आसक्ति से अनुभव करना ये पाँच भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार हैं।

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य— ये चार शिक्षाव्रत हैं। अणुव्रती श्रावक द्वारा मर्यादित क्षेत्र में भी प्रतिदिन घड़ी-घण्टे के लिये देश को संकुचित करना देशावकाशिकव्रत है। मर्यादित क्षेत्र के भीतर रहते हुये

उसके वाहर प्रेपण, शव्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप करना— ये पाँच उसके अतिचार हैं।

मर्यादा के भीतर और वाहर सम्पूर्ण रूप से पाँच पापों का एक निश्चित अवधि के लिये त्याग करना सामायिक है। यह प्रतिदिन की जाती है। इसमें आरम्भादि सभी परिग्रहों का त्याग हो जाने से श्रावक उपसर्ग के कारण कपड़े में लिपटे हुये मुनि के समान हो जाता है। वह गृहीत अनुष्ठान को न छोड़ते हुये मौन धारण करता है तथा शीतोष्णादि परीपहों और उपसर्ग को भी सहन करता है। इस अवधि में श्रावक दुःख रूप संसार के स्वरूप और उसके विपरीत मोक्ष के स्वरूप का चिन्तन करता है। मन, वचन और काय की खोटी क्रिया, अनादर तथा अस्मरण— ये पाँच सामायिक के अतिचार हैं।

चतुर्दशी और अष्टमी के दिन सर्वदा के लिये व्रत की भावना से चार प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोपधोपवास है। उपवास के दिन पाँच पापों के साथ ही आरम्भ और श्रृंगारादि का भी त्याग किया जाता है। उपवास करने वाला श्रावक उक्त अवधि में धर्मरूपी अमृत का स्वयं सेवन करता है और दूसरों को कराता है। अथवा प्रमाद का त्याग कर ज्ञान-ध्यान में लीन हो जाता है। प्रोपधोपवास में धारणा और पारणा के दिन भी एक-एक बार ही आहार ग्रहण किया जाता है। बिना देखे और बिना शोधे पूजादि उपकरणों को ग्रहण करना, मल-मूत्रादि का विसर्जन करना, विस्तर आदि को विछाना, अनादर और अस्मरण— ये पाँच इसके अतिचार हैं।

प्रतिदान की अपेक्षा किये बिना गुणों के खजाना गृहत्यागी तपस्वी को विधि-द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार धर्म के निमित्त दान देना वैयावृत्य है। इसके अतिरिक्त गुणो के अनुराग से संयमी के जीवन में आई हुई विपत्तियों के निराकरण हेतु पैरों आदि का सम्मर्दन करना भी वैयावृत्य है। सप्त गुणों सहित शुद्ध दाता के द्वारा गृह सम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों सहित मुनियों को नवधाभक्तिपूर्वक आहार आदि देना दान है। दान की विशेपता यह है कि जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार मुनियों को दिया गया दान गृहस्थी के कार्यो से सञ्चित

सुदृढ़ कर्म को भी नष्ट कर देता है। मुनियों को नमस्कार करने से उच्चगोत्त, आहारादि दान देने से भोग, उपासना से सम्मान, भक्ति से सुन्दर रूप और स्तुति से यश की प्राप्ति होती है। उचित समय में योग्य पात्र को दिया गया थोड़ा भी दान पृथिवी में पड़े हुये वट-वृक्ष के बीज के समान समय आने पर अभीष्ट फल को देने वाला होता है। आहार, औषधि, उपकरण और आवास के भेद से वैयावृत्य चार प्रकार का है। श्रावक के लिये प्रतिदिन अर्हन्त भगवान की पूजा भी करनी चाहिये। हरित पत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढकना, हरित पत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, अस्मरण और मात्सर्य– ये पाँच वैयावृत्य के अतिचार हैं।

प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिये शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। यतः अन्त समय की यह क्रिया तप का फल है, अतः सल्लेखना धारण करने वाले को चाहिये कि वह प्रीति, वैर, ममत्वभाव और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन से प्रिय वचनों द्वारा अपने कुटुम्बी एवं अन्य मिलने-जुलने वालों से क्षमा कराकर स्वयं क्षमा करे तथा कृत, कारित और अनुमोदनापूर्वक सभी पापों की निश्छल भाव से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले महाव्रतों को धारण करे। साथ ही शोक, भय, खेद, स्नेह, कालुष्य और अप्रीति को त्यागकर धैर्य और उत्साह के साथ शास्त्ररूप अमृत से चित्त को प्रसन्न करे। फिर क्रमशः आहार छोड़कर दुग्धादि चिकने पदार्थो का सेवन करे, तदनन्तर दुग्धादि को छोड़कर स्निग्धता रहित छाँछ आदि पेयों का सेवन करे। पुनः उनका भी त्यागकर गर्म जल का सेवन करे और अन्त में जल का भी त्यागकर उपवास पूर्वक पञ्च नमस्कार मन्त्र का जाप करते हुये शरीर का विसर्जन करे। जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान– ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं। सल्लेखना धारण करने वाला क्षपक पूर्ण चारित्र की प्राप्ति होने पर उसी भव से अथवा कमी रहने पर परम्परा से मुक्ति को प्राप्त करता है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें कही गई हैं, जो क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती हैं। सम्यग्दर्शन से शुद्ध; संसार, शरीर और भोगों से उदासीन, पञ्च परमेष्ठी

की शरण को प्राप्त होते हुये अष्ट मूलगुणों को धारण करना दार्शनिक प्रतिमा है। शल्य रहित निरतिचार बारह व्रतों का पालन करना व्रत प्रतिमा है। यथोक्त नियमपूर्वक तीनों कालों में वन्दना करना सामायिक प्रतिमा है। पर्व के दिनों में प्रोषध सम्बन्धी नियमों का पालन करना प्रोषधोपवास प्रतिमा है। अपक्व, मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को न खाना सचित्तत्याग प्रतिमा है। रात्रि में चतुर्विध आहार न करना रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा है। काम-सेवन से विरत होना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। प्राणघात के कारण खेती, व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होना आरम्भत्याग प्रतिमा है। दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों से ममत्व त्यागकर आत्मस्वरूप में स्थित होना परिग्रहत्याग प्रतिमा है। आरम्भजनित ऐहिक कार्यो में अनुमति न देना अनुमतित्याग प्रतिमा है और वन में जाकर मुनियों के समीप व्रत ग्रहणकर भिक्षा से प्राप्त भोजन करते हुये एक वस्त्र धारणकर तपश्चरण करना उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है।

पाप जीव का शत्रु है और पुण्य जीव का मित्र अथवा हितकारी है, ऐसा विचार करता हुआ श्रावक यदि आगम को जानता है तो वह कल्याण का भाजन होता है और सभी पदार्थो की सिद्धि करता है।

अन्त में आचार्य समन्तभद्र ने कामना की है कि– सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी सुख की भूमि होती हुई। मुझे उसी तरह सुखी करे जिस तरह सुख की भूमि कामिनी कामी पुरुष को सुखी करती है। सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी निर्दोष शील (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) से युक्त होती हुई मुझे उसी तरह रक्षित करे जिस तरह निर्दोष शीलवती माता पुत्र को रक्षित करती है। सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मूलगुण रूपी अलङ्कारों से भूषित मुझे उसी तरह पवित्र करे जिस प्रकार गुणभूषित कन्या कुल को पवित्र करती है।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव
सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीता–
ज्जिंनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ।।[12]

आचार्य समन्तभद्रकृत श्रावकाचार के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से हमें

ज्ञात होता है कि उन्होंने जमीन से जुड़े व्यक्तियों को ध्यान में रखकर धर्मानुकूल सरल शब्दों में अपनी बात कही है। उन्होंने ऐसा कोई हवाई फायर नहीं किया है जो आम आदमी की समझ से दूर हो। जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हैं और आचार्य उमास्वामी तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं वहीं आचार्य समन्तभद्र परमार्थभूत आप्त, आगम और गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। साथ ही आठ अङ्गों सहित, तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित होना भी अपेक्षित है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में दीपक की लौ की तरह एक मात्र आप्त, आगम और गुरु के प्रति समर्पण होना ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा नहीं है कि इधर सच्चे आप्त, आगम और गुरु के प्रति भी समर्पित और उधर रागी-द्वेषी देव, शास्त्र और गुरु के प्रति भी समर्पित। तीन मूढ़ताओं का निषेध कर उन्होंने गंगा गये सो गंगादास और जमना गये सो जमनादास जैसी दोलायमान स्थिति से श्रावकों को सावधान किया है। आठ मदों के निषेध के मूल में वे यह कहना चाहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को कुल और जाति आदि के अहंकार से दूर रहना चाहिये, क्योंकि कुल और जाति आदि का सम्बन्ध मात्र शरीर से है आत्मा से नहीं। अन्य पद भी इह लौकिक ही हैं, स्थायी नहीं। इसी जन्म के साथ छूट जाने वाले हैं। सम्यग्दर्शन के आठों अङ्गो सहित होने का तात्पर्य यह है कि आधे-अधूरे का कोई अर्थ नही पूर्णता में ही फलसिद्धि है। मशीन का एक भी पेंच-पुर्जा इधर-उधर हुआ नहीं कि उत्पादन या तो रुक जायेगा या फिर उसमें खोट आ जायेगी, ठीक वैसे ही जैसे एक अक्षर कम होने पर मन्त्र विष की वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता है।

आचार्य समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन के लक्षण में 'आप्त' शब्द का प्रयोग किया है, 'देव' आदि का नहीं। आप्त शब्द में प्रमाणिकता है[13], जबकि देव शब्द चतुर्गति में भ्रमण करने वाले रागी-द्वेषी का वाचक भी हो सकता है। ईश्वर शब्द का प्रयोग करने से सृष्टिकर्त्ता का बोध हो जाता, जो जैनदर्शन में न तो अभीष्ट है और न ही जैन सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि शब्दों का प्रयोग करने पर सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले उक्त देवताओं का बोध हो जाता। अतः आचार्य समन्तभद्र

द्वारा प्रयुक्त आप्त शब्द ही सर्वथा उपयुक्त है और ऐसे आप्त द्वारा प्रणीत आगम तथा तदनुकूल आचरण करने वाले गुरु ही सच्चे होंगे, अन्यथा नहीं।

आप्त शव्द को और स्पष्ट करने के लिये उन्होंने आप्त की तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है— धर्म के प्रति आस्था रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने साधर्मी भाई का तिरस्कार नहीं करेगा और करता है तो वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्म धार्मिकजनों के अभाव मे सम्भव नहीं है— न धर्मो धार्मिकैर्बिना।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में कुल और जाति आदि का कोई महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टि में धर्म ही सब कुछ है। तिर्यक् योनि में उत्पन्न हुआ कुत्ता भी धर्म के प्रभाव से देव हो सकता है और अधर्म के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है— श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्बिषात्।

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में मोही मुनि भी हेय है और मोक्षमार्ग में स्थित निर्मोही गृहस्थ भी उपादेय है। क्योंकि मोक्षमार्गस्थ गृहस्थ बढ़ते क्रम में स्थित है, अतः समय आने पर वह मुक्ति को अवश्य प्राप्त करेगा और मोही मुनि घटते क्रम में स्थित है, अतः वह नरक तिर्यञ्चादि गति का पात्र होगा। मोक्षमार्गस्थ निर्मोही गृहस्थ ऊर्ध्वमुखी है और मोही मुनि पतनोन्मुखी। मोक्षमार्गस्थ निर्मोही गृहस्थ का भविष्य उज्ज्वल है और मोही मुनि का भविष्य अन्धकारमय। शास्त्रों में मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट आयु सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर बतलाई गई है। अतः उससे बचने के लिये जीव को मोह का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र ने मोक्षमार्ग के बीज रूप सम्यग्दर्शन की जो महिमा गाई है वह अचिन्त्य है। इससे नरक-तिर्यञ्चादि गतियों का अभाव तो हो ही जाता है, मनुष्य गति में भी वह नपुंसक नहीं होगा। स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं होगा। नीच कुल में जन्म नहीं लेगा। उच्च कुल में जन्म लेकर भी विकृत अङ्गों वाला नहीं होगा, अल्पायु नहीं होगा और दरिद्रपने को भी प्राप्त नहीं होगा। अपितु उसके विपरीत जब यह सम्यग्दर्शन विकसित होगा पत्र-पुष्पादि जब इसमें लगेंगे तो यह स्वर्ग और मोक्षरूप फल को देने वाला होगा।

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः।।[14]

प्राचीन परम्परा में जैन साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है– अङ्ग और अङ्गबाह्य।[15] जिनका सीधा सम्बन्ध तीर्थङ्कर की वाणी से है तथा गणधरों द्वारा रचित है, वह अङ्ग साहित्य है। ये संख्या में बारह होने के कारण द्वादशाङ्गवाणी के नाम से जाने जाते हैं। बाद में उन्हीं अङ्गों को आधार बनाकर परवर्ती आचार्यो द्वारा रचित साहित्य अङ्गबाह्य है। आचार्य समन्तभद्र ने जैन साहित्य को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग– इन चार भागों में विभक्त किया है। चारों अनुयोगो की विषय वस्तु देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा किया गया वह विभाजन अङ्गबाह्य साहित्य को आधार बनाकर किया गया है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने चारों अनुयोगों के विषय मात्र का उल्लेख किया है। उन्होंने कहीं किसी ग्रन्थ का इस प्रकार उल्लेख नहीं किया है कि अमुक ग्रन्थ अमुक अनुयोग का ग्रन्थ है, किन्तु परवर्ती विद्वानो ने विषय को आधार बनाकर चारों अनुयोगों के ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। समन्तभद्र द्वारा बतलाये गये चारों अनुयोगों के विषय को ध्यान में रखकर अङ्ग साहित्य को भी अनुयोगों में विभक्त किया जा सकता है, किन्तु चारों अनुयोगों में अङ्गसाहित्य को विभक्त करने का उल्लेख ग्रन्थों में मुझे देखने को नही मिला है। हाँ! अनुयोगों के क्रम को देखकर ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र का यह क्रम-निर्धारण एक सामान्य अनगढ़ व्यक्ति को गढ़ने की प्रक्रिया है।

सामान्यतया व्यक्ति सर्वप्रथम उन तिरेसठशलाका पुरूषों के जीवन का अध्ययन करे और जाने कि ससार और शरीर की स्थिति क्या है? और उससे उभरने के लिये हमारे आदर्श पुण्यश्लोक पुरुषों ने क्या किया है? तथा कैसे मोक्षमार्ग में आरूढ़ हुये हैं? यह सब जानने के पश्चात् करणानुयोग का स्वाध्याय कर कर्म और कर्मफल को जाने। तदनन्तर चरणानुयोग का स्वाध्याय

कर तदनुसार आचरण करे और अन्त में द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय कर आत्मतत्त्व का चिन्तन करे। इस क्रम से अनुयोगों का स्वाध्याय करने वाला एक सामान्य व्यक्ति भी अपनी धार्मिक यात्रा प्रारम्भ कर अपनी मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

मोक्षमार्ग की यात्रा का अन्तिम पड़ाव चारित्र है। इसके बिना अनन्त आनन्द के सागर सिद्धत्व पद की प्राप्ति असम्भव है। चारित्र के जिन दो भेदों-सकल संयम और विकल संयम का उल्लेख किया गया है, उनमें जीवन को मुक्ति तो सकलसंयम से ही होगी, किन्तु सभी जीवों में एक समान शक्ति नहीं होती है। अतः जो शक्ति सम्पन्न हैं वे थोक में सदाचरण करने हेतु सकलसंयम धारण करते हैं और जो अल्पशक्ति वाले हैं, वे फुटकर-फुटकर व्रतों का पालन करने हेतु विकलसंयम धारण करते हैं।

अल्प शक्ति वाले व्यक्ति मुनिधर्म की पूर्वावस्था श्रावकधर्म का पालन करें, इसके लिये पॉच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों तथा जीवन के अन्त में सल्लेखना धारण करने का विधान है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार सामाजिक स्थितियों में निरन्तर उतार-चढ़ाव आता रहता है। अतः पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यो के विचारों में मतभेद भी देखने को मिलता है, किन्तु इसे मनभेद नहीं समझना चाहिये। आचार्य सोमदेवसूरि का यह कथन सर्वत्र स्वागत योग्य है कि—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सक्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्।।[16]

मूल दो बातों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिये— प्रथम यह कि जीव के धर्म के मूल सम्यग्दर्शन की हानि नहीं होनी चाहिये और द्वितीय यह कि जीव द्वारा स्वीकृत व्रतों में किसी भी प्रकार का दूषण नहीं लगना चाहिये।

यहॉ आचार्य समन्तभद्र के विवेचन में जो पूर्वाचार्यो से मतभेद है, उसमें उक्त दोनों मूल बातों से कहीं कोई टकराव नहीं है। पॉच अणुव्रतों को सभी पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यो ने प्रायः समान रूप से स्वीकार किया है। हाँ!

आचार्य वीरनन्दी, वीर चामुण्डराय और पण्डितप्रवर आशाधर ने रात्रिभोजन त्याग को छठाँ अणुव्रत माना है।[17]

अणुव्रतों की रक्षा के लिये अतिचारों से बचना अपेक्षित है। आचार्य उमास्वामी ने तो व्रतों में स्थिरता लाने के लिये प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है तथा अन्य भी अनेक भावनाओं का पृथक् विवेचन किया है।[18] तत्त्वार्थसूत्र और आचार्य समन्तभद्रकृत श्रावकाचार में उल्लेखित अतिचारों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह परिमाण व्रत के जो अतिचार बतलाये गये हैं, उनसे पाँच की एक निश्चित संख्या का अतिक्रमण होता है तथा भोगो-पभोगव्रत के जो अतिचार बतलाये गये हैं, वे केवल भोग पर ही घटित होते हैं, उपभोग पर नहीं, जबकि व्रत के नामानुसार उनका दोनों पर ही घटित होना आवश्यक है। अतः आचार्य समन्तभद्र ने उक्त दोनों ही व्रतों के एक नये ही प्रकार के पाँच-पाँच अतिचारों का निरूपण किया है, जिससे आचार्य समन्तभद्र का अतिचार विवेचन सर्वाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[19]

सभी आचार्यों ने श्रावक के अष्ट मूलगुणों का उल्लेख किया है, किन्तु वे आठ मूलगुण कौन-कौन से हैं? इसमें आचार्यों में परस्पर मतभेद है। भिन्न-भिन्न विचारधारा के बावजूद भिन्न-भिन्न आचार्यों का मूल उद्देश्य एक मात्र अहिंसा ही है और वह कहीं भी विखण्डित नहीं हुआ है।

आचार्य समन्तभद्र ने तीन मकार और पाँच अणुव्रतों को श्रावक के अष्ट मूलगुण स्वीकार किया है।[20] इसी प्रकार आचार्य शिवकोटि ने भी उपर्युक्त आठ मूलगुण स्वीकार किये हैं, किन्तु अज्ञानियों अथवा बालकों की दृष्टि से उन्होंने पञ्चाणुव्रतों के पालने के स्थान पर पञ्च उदम्बरफलों के त्याग का ही अष्टमूलगुणों में समावेश किया है।[21] महापुराणकार आचार्य जिनसेन ने प्रायः आचार्य समन्तभद्र का ही अनुसरण किया है। हाँ! इतना विशेष है कि उन्होंने मधु के स्थान पर द्यूत (जुआ) त्याग का उल्लेख किया है और मधुत्याग को मांसत्याग में गर्भित कर लिया है।[22]

आचार्य सोमदेवसूरि[23] आचार्य अमृतचन्द्रसूरि[24], आचार्य पद्मनन्दी[25],

आचार्य देवसेन[26] पण्डितप्रवर आशाधर[27] और कवि राजमल्ल[28] आदि ने तीन मकारों और पञ्च उदम्बर फलों का त्याग— इन आठ को ही श्रावकों के मूलगुण कहा है। इतना ही नहीं हिन्दी भाषा में लिखित कवि पद्मकृत श्रावकाचार[29], किशनसिंहकृत क्रियाकोष[30] और दौलतरामकृत क्रियाकोष[31] में भी उपर्युक्त तीन मकारों और पञ्च उदम्बर फलों के त्याग को ही अष्ट मूलगुण कहा है।

पण्डितप्रवर आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत में क्वचित् के नाम से जिन अष्टमूलगुणों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं— मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पञ्चोदम्बरफल त्याग, देव वन्दना, जीव दया और जलगालन।[32] श्रावक के इन अष्ट मूलगुणों पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये।

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक द्वारा स्वीकृत अणुव्रतों की रक्षा के लिये तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख किया है। इन दोनों को मिलाकर सप्तशील भी कहते हैं। आचार्य उमास्वामी ने सप्तशीलों का एक साथ कथन किया है।[33] उन्होंने सप्तशीलों को पृथक्-पृथक् गुणव्रत और शिक्षाव्रत जैसे भेदों में विभाजित नहीं किया है। शील शब्द का प्रयोग भी उन्होंने अतिचारों का उल्लेख करने से पूर्व किया है— व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्।[34] जबकि आचार्य समन्तभद्र ने न केवल विभाजन किया है, अपितु भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में भी उनका विवेचन किया है। उमास्वामी ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड विरति— इन तीन का सप्तशीलों के अन्तर्गत प्रारम्भ में उल्लेख किया है। अतः प्रथम इन तीन को गुणव्रतों और बाद के चार को शिक्षाव्रतों की संज्ञा दी जाये तो स्वामी समन्तभद्र ने जिन गुणव्रतों का उल्लेख किया है, उनमें भेद प्रतीत होता है। अर्थात् उमास्वामी के अनुसार उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत शिक्षाव्रत है, जबकि आचार्य समन्तभद्र के अनुसार वह गुणव्रत है। उमास्वामी ने जिसे उपभोग कहा है वह आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भोग है। जिसे उमास्वामी ने परिभोग कहा है, वह स्वामी समन्तभद्र के अनुसार उपभोग है। स्वामी समन्तभद्र ने भोग और उपभोग की स्पष्ट परिभाषा दी है—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः।।[35]

भोजन और वस्त्र आदि जो पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं, उनमें जो एक बार भोगकर छोड़ देने योग्य है, वह भाग है और जो भोगकर पुनः भोगने योग्य है, वह उपभोग है। सप्त शीलो के अन्तर्गत प्रथम तीन गुणव्रत स्थानीय व्रतों में उमास्वामी ने जो देशव्रत ग्रहण किया है वह आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में देशावकाशिकव्रत है, जिसे उन्होंने शिक्षाव्रतों में ग्रहण किया है। ये दोनों परिभाषा की दृष्टि से एक ही हैं, मात्र नामों में अन्तर है। उमास्वामी ने सप्त शीलों में अतिथि संविभागव्रत स्वीकार किया है, जबकि समन्तभद्र ने उसके स्थान पर वैयावृत्य को परिगणित किया है। उमास्वामी ने श्रावक के एक विशेष कर्तव्य दान का पृथक् उल्लेख मात्र किया है[36] और उसके भेदों का तो नाम भी नहीं लिया है, वहीं आचार्य समन्तभद्र ने दान को वैयावृत्य के अन्तर्गत माना है और उसके चार भेद भी किये हैं।

सल्लेखना के पाँच अतिचारों में उमास्वामी ने सुखानुबन्ध (पूर्व में भोगे गये भोगों का स्मरण करना) का उल्लेख किया है[37], जबकि आचार्य समन्तभद्र ने उसके स्थान पर भय को ग्रहण किया है, जो इहलोक और परलोक रूप भय की ओर इशारा करता है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी समन्तभद्र ने सुखानुबन्ध को निदान में परिगृहीत कर भय को पृथक् स्थान दिया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने जहाँ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का मात्र नामोल्लेख किया है और आचार्य उमास्वामी ने इनकी चर्चा भी नहीं की है उनका विस्तार से उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने किया है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी ने प्रसङ्गवशात् श्रावकधर्म की चर्चा की है, जबकि आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकधर्म को लक्ष्य करके उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक की आचार संहिता का जो विस्तृत और स्पष्ट विवेचन किया है, वह आद्य तो है ही,

युक्तिसंगत भी है। अतः उसका सम्यकृतया परिपालन कर आत्म-कल्याण करना चाहिये।

ग्रन्थ - सन्दर्भ

1. समीचीन धर्मशास्त्र, भाष्यकार-जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' प्रथम संस्करण, प्रका – वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् 1955 प्रस्तावना, पृष्ठ 37।
2. श्रावकाचार संग्रह, चतुर्थभाग, सम्पा. एव अनु –सिद्धान्ताचार्य प. हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ, प्रका – फलटण, प्रथम सस्करण, सन् 1979, ग्रन्थ और ग्रन्थकार परिचय, पृ 17।
3. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, लेखक – जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', प्रका – श्रीवीर शासन सघ, कलकत्ता, प्रथम सस्करण सन् 1956, पृष्ठ 172।
4. वही, पृष्ठ 149 से 486 तक
5. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, हिन्दी रूपान्तरकार एव सम्पादक – पं. पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य, प्रकाशक– वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम सस्करण, सन् 1972, प्रस्तावना, पृष्ठ 9।
6. चारित्रपाहुड, गाथा 5।
7. वही, गाथा 20।
8. वही, गाथा 21 से 25।
9. तत्त्वार्थसूत्र 7/1
10. निःशल्यो व्रती – तत्त्वार्थसूत्र 7/18
11. तत्त्वार्थसूत्र 7/17-38
12. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, पद्य 150
13. द्रष्टव्य, आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश
14. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, पद्य 41
15. तत्त्वार्थसूत्र 1/10
16. यशस्तिलक चम्पू
17. आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी, सम्पादक – प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन एव डॉ जयकुमार जैन, प्रकाशक – आचार्य शान्तिसागर (छाणी) स्मृति ग्रन्थ माला मे प्रकाशित रत्नकरण्ड तथा अन्यान्य श्रावकाचार : प्रो राजाराम जैन, पृष्ठ 32
18. तत्त्वार्थसूत्र 7/2-12

19. श्रावकाचार सग्रह, चतुर्थभाग, प्रस्तावना, पृष्ठ 111
20. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पद्य 66।
21. रत्नमाला, पद्य 19 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 3, पृष्ठ 411)
22 द्रष्टव्य, श्रावकाचार संग्रह, भाग 1, पृष्ठ 251।
23. यशास्तिलक चम्पू महाकाव्य (उत्तरार्द्ध) 7/1
24 पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य 61
25 पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, श्रावकाचार, पद्य 23
26. श्री देवसेन विरचित प्राकृत भावसंग्रह (श्रावकाचार सग्रह, भाग 3, पृ. 440)
27. सागारधर्मामृत 2/2
28. पञ्चाध्यायी 2/726
29. पद्मकृत श्रावकाचार, ढाल नरेसुआनी पद्य 17 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 5, पृ 41)
30 किशनसिंहकृत क्रियाकोष, पद्य 63-64 (श्रावकाचार संग्रह, भाग 5, पृ. 115)
31 श्री दौलतरामकृत क्रियाकोष, पद्य 74-75 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 5, पृ. 244)
32 सागारधर्मामृत 2/18 (श्रावकाचार सग्रह, भाग 2, पृष्ठ 8)
33 तत्त्वार्थसूत्र 7/21
34. वहीं, 7/24
35 रत्नकरण्डकश्रावकाचार, पद्य 83
36. तत्त्वार्थसूत्र 7/38
37 वही, 7/37

—रीडर एवं अध्यक्ष—जैन-बौद्धदर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य पूज्यपाद और उनका इष्टोपदेश

—डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन

भारतीय वसुन्धरा रचनाकारों के लिए बड़ी उर्वर रही है। जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता एक साहित्य सर्जक को होती है वैसी पृष्ठभूमि भारतीय वसुन्धरा और उस पर निवास करने वाले लोगों की रही है। यहाँ व्यक्ति का आदर-सम्मान उसके व्यक्ति होने के कारण नहीं अपितु उसके व्यक्तित्व की चमक-दमक एवं प्रदेय से आँका जाता है। 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ के रचयिता आचार्य पूज्यपाद ऐसे ही साहित्य-सर्जकों में से हैं जिन्होंने अपनी महनीय कृतियों से आम जन को तो उपकृत किया ही है स्वयं को भी सम्माननीयों की श्रेणी में बिठाया। उनके व्यक्तित्व में हमें एक संस्कृतज्ञ कवि, दार्शनिक, वैयाकरण, तार्किक, वाग्मी और ध्येयवान् व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही हो जाते हैं। वे साहित्य जगत की अमर विभूति हैं। आदिपुराण के कर्ता आचार्य जिनसेन ने उन्हें कवियों में तीर्थकर मानते हुए उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गुणगान किया है। वे लिखते हैं—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्।।[1] (आदिपुराण 1/52)

अर्थात् जो कवियों में तीर्थकर के समान थे और जिनका वचन रूपी तीर्थ विद्वानों के वचनमल को धोने वाला है उन देव अर्थात् देवनन्दि आचार्य की स्तुति करने में भला कौन समर्थ है?

यहाँ उल्लेखनीय है कि आचार्य देवनन्दि ही आचार्य पूज्यपाद हैं। श्रवण बेलगोला से प्राप्त शिलालेख के अनुसार—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्र बुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं।।

जैनेन्द्रे निज शब्द-भोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपाद-मुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः।।[2]

अर्थात् जिनका प्रथम नाम देवनन्दि था। वे बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि और देवताओं द्वारा चरण पूजे जाने के कारण पूज्यपाद कहलाये। उन्होंने जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि जैसा उत्कृष्ट सिद्धान्तग्रन्थ, जैन अभिषेक (जन्माभिषेक) तथा अपनी सूक्ष्म बुद्धि से समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचना की। वह पूज्यपाद आचार्य मुनियों के समूहों के द्वारा पूजनीय हैं।

आचार्य पूज्यपाद के पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी ज्ञात होता है। ये कर्नाटक के कोले नामक ग्राम के निवासी और ब्राह्मण कुलभूषण थे। बाल्यकाल में ही नाग द्वारा निगले गये मेंढक की व्याकुलता देखकर इन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने दिगम्बरी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। वे मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ बलात्कार गण के पट्टाधीश थे। विद्वानों ने इसका समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी माना है।

आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित रचनाएं इस प्रकार हैं-

1. दशभक्ति, 2. जन्माभिषेक, 3. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धिः), 4. समाधि तन्त्र, 5. इष्टोपदेश, 6. जैनेन्द्र व्याकरण, 7. सिद्धिप्रिय स्तोत्र

इन कृतियों से आचार्यपूज्यपाद की महत्ता बढ़ती ही गयी। ज्ञानार्णव के कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार-

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसम्भवम्।
कलङ्कमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते।।[3]

अर्थात् जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के मल को दूर करने में समर्थ है उन देवनन्दी आचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

महनीय एवं मननीय कृति : इष्टोपदेश –

आचार्य पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश में कुल 51 श्लोक हैं। श्लोक परिमाण की दृष्टि से यह लघुकाय कृति है किन्तु इसमें भरे हुए अध्यात्म रस के कारण यह महनीय कृति है। इसका विषय आत्म स्वरूप सम्बोधन है। ग्रन्थ के नाम 'इष्टोपदेश' के विषय में ग्रन्थ के अन्त में आचार्य पूज्यपाद ने स्वयं लिखा है कि–

इष्टोपदेशमति सम्यगधीत्य धीमान्
मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा
मुक्तिश्रियं निरूपमामुपयाति भव्यः।।[4]

अर्थात् बुद्धिमान् भव्य पुरुष इस प्रकार इष्टोपदेश ग्रंथ को अच्छी तरह पढ़कर के अपने आत्मज्ञान से मान-अपमान के समताभाव को फैलाकर आग्रह को त्यागता हुआ गाँव आदि में अथवा वन में निवास करता हुआ उपमा रहित मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

जो हमारे लिए इष्ट हो; उसका उपदेश इस ग्रंथ में मिलता है। इष्ट वही होता है जिससे आत्मा का हित होता है। उपदेश भी वही सार्थक एवं कार्यकारी माना जाता है जो लक्ष्य का स्मरण कराकर लक्ष्य तक पहुँचने की प्रेरणा दे सके। इस दृष्टि से इष्टोपदेश कृति की अपनी महत्ता है। डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार– 'इसकी रचना का एकमात्र हेतु यही है कि संसारी आत्मा अपने स्वरूप को पहचानकर शरीर, इन्द्रिय एवं सांसारिक अन्य पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगे। असावधान बना प्राणी विषय भोगों में ही अपने समस्त जीवन को व्यतीत न कर दे।'[5]

''इस ग्रन्थ के अध्ययन से आत्मा की शक्ति विकसित हो जाती है और स्वात्मानुभूति के आधिक्य के कारण मान-अपमान, लाभ, हर्ष-विषाद आदि में समताभाव प्राप्त होता है। संसार की यथार्थ स्थिति का परिज्ञान प्राप्त होने से राग-द्वेष, मोह की परिणति घटती है। इस लघुकाय ग्रन्थ में समयसार का सार

अंकित किया गया है। शैली सरल और प्रवाहमय है।"[6]

इष्टोपदेश एक प्रेरक कृति है जो आत्म-जागरण की संवाहिका है। जीवन के दुःख-सुख कर्मजन्य हैं। देह और आत्मा को एकरूप मानने के कारण उसे संसार के दुःख उठाने पड़ते हैं। यदि वह जीव संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाना चाहता है तो अपनी मनोदशा को स्थिर कर आत्मभावों को जगाकर आत्मस्वरूप में रमण करना चाहिए तभी वह स्व-स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। 'इष्टोपदेश' में इन्हीं भावनाओं को शब्दांकित करते हुए जिन प्रमुख बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है वह इस प्रकार हैं—

व्रत-अव्रत — पाप कार्यो से विरत होना व्रत है[7] और पाप कार्यो में रत रहना अव्रत है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में बताया है कि—

> **वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकं।**
> **छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्**

अर्थात् व्रतों के द्वारा देवपद प्राप्त करना श्रेष्ठ है; किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। व्रत और अव्रत में छाया और धूप की तरह अन्तर होता है।

भोग रोग तथा दुःख-स्वरूप हैं — इष्टोपदेश के अनुसार— 'देह धारियों को जो सुख और दुःख होता है वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। भोग भी आपत्ति के समय रोगों की तरह प्राणियों को आकुलता प्रदान करने वाले होते हैं।[9]

दुःख कर्मजन्य होते हैं — इष्टोपदेश के अनुसार "विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति"[10] अर्थात् जिसने पूर्व में दूसरे को सताया है; ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारने वाले के प्रति क्यों क्रोधित होता है? यहाँ तात्पर्य यह है कि यदि पूर्व जन्म में जीव ने किसी को दुःख पहुँचाया है तो इस जन्म में उसे उसका फल भोगना ही पड़ेगा। देह (शरीर) का संयोग भी जीव के दुःख का कारण है अतः वह भावना भाता है कि—

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम्।
त्यजाम्येनं ततः सर्व, मनोवाक्कायकर्मभिः।।[11]

अर्थात् संसारी प्राणियों को संयोग से दुःखों के समूह का भागीदार बनना पड़ता है अतः इन सबको मैं मन, वचन, काय से त्यागता हूँ।

संसार-परिभ्रमण – यह जीव अज्ञान से राग-द्वेष रूपी दो लम्बी डोरियों की खींचातानी से संसार रूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है, परिवर्तन करता रहता है।[12]

देह-आत्म सम्बन्ध – यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिए हुए हैं परन्तु मूढ़प्राणी मोहनीय कर्म के जाल में फँसकर उन्हें आत्मा के समान मानता है।[13] जबकि स्थिति यह है कि– जो कार्य आत्मा का उपकार करने वाला है, वह शरीर का अपकार करने वाला है तथा जो शरीर का उपकार करने वाला है वह आत्मा का अपकार करने वाला है।[14] यह आत्मा आत्मानुभव द्वारा स्पष्ट प्रकट होता है, जाना जाता है। शरीर के बराबर है, अविनाशी है, अनन्तसुखवाला है तथा लोक और अलोक को जानने-देखने वाला है।[15] जीव (आत्मा) अन्य है और पुद्गल (शरीर) अन्य है। इस प्रकार तत्व का सार है।[16]

धन से सुख कैसे? सुख तो त्याग में है – जैसे कोई ज्वरशील प्राणी घी खाकर अपने को स्वस्थ मानने लग जाये, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं; ऐसे धन-आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है।[17] काल व्यतीत होने व आयु के क्षय को भी धनवृद्धि का कारण मानने वाले धनी व्यक्ति यह नहीं समझते कि उनका जीवन घट जायेगा। उनके लिए तो जीवन से अधिक धन इष्ट है।[18] वास्तव में सुख धनसंचय में नहीं बल्कि उसके त्याग में है। 'इष्टोपदेश' के अनुसार–

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्व शरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति।।[19]

अर्थात् जो मनुष्य त्याग (दान) करने के लिये अथवा अपने सुख के लिए धन संचित करता है; वह ऐसा ही है जैसे वह स्नान कर लूँगा; यह सोचकर अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।

भोगोपभोग असेव्य – आरम्भ में संताप के कारण, प्राप्त होने पर अतृप्ति कारक तथा अन्त में जो बड़ी कठिनाई से भी छोड़े नहीं जा सकते; ऐसे भोगोपभोग को कौन विद्वान् आसक्ति के साथ सेवन करेगा?[20]

मोह का कारण अज्ञान है और ज्ञान से उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती है– इष्टोपदेश के अनुसार – 'मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि'[21] अर्थात् मोह से ढॅका हुआ ज्ञान वास्तविक स्वभाव को नहीं जान पाता है। अतः अज्ञान की सेवा छोड़कर ज्ञान की उपासना करना चाहिए; क्योंकि अज्ञानी की सेवा – उपासना अज्ञान देती है और ज्ञानियों की सेवा-उपासना ज्ञान उत्पन्न करती है। यह बात अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो कुछ होता है, उसी को वह देता है–

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः।।[22]

ज्ञान से जिस उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होती है उससे विषयों के प्रति अरुचि बढ़ती है–

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।।
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।[23]

अर्थात् जैसे-जैसे ज्ञान में उत्तम तत्त्व आता जाता है वैसे-वैसे सुलभता से प्राप्त होते हुए भी विषय भोग रुचते नहीं हैं। जैसे-जैसे सुलभ विषय भी आत्मा को रुचते नहीं हैं वैसे-वैसे अपने ज्ञान से श्रेष्ठ आत्मा का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है, उत्तम तत्त्व की प्राप्ति होने लगती है।

कर्म निर्जरा – आत्मा के चितंवन रूप ध्यान से तथा परीषह आदि का अनुभव न होने के कारण कर्मो के आस्रव को रोकने वाली निर्जरा शीघ्र होने लगती है।[24] आत्म ध्यान का आनन्द निरन्तर बहुत से कर्म रूपी ईधन को जलाता है।[25]

जीव मुक्ति हेतु चिन्तन – इष्टोपदेश के अनुसार–

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।।[26]

अर्थात् ममता भाव वाला जीव कर्मो से बँधता है और ममतारहित जीव मुक्त हो जाता है। इसलिए पूरे प्रयत्न के साथ साम्य भाव का चितंवन करना चाहिए।

मोहभाव से मैंने सभी पुद्गल परमाणुओं को बार-बार भोगा और छोड़ा है। अब जूठन के समान उन त्यक्त पदार्थो के प्रति इच्छा ही नहीं है।[27] ऐसी स्थिति में–

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञः, दृश्यमानस्य लोकवत्।।[28]

अर्थात् पर के उपकार का त्याग करके अपने उपकार में तत्पर हो जा। दिखाई देने वाले इस जगत् की तरह अज्ञानी जीव अन्य पदार्थ का उपकार करता हुआ पाया जाता है।

अन्तिम लक्ष्य-आत्मभाव की प्राप्ति – आत्मभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है– "यत्र भावः शिवं दत्ते।"[29] अतः मन की एकग्रता से इन्द्रियों को वश में कर, चित्त वृत्ति को एकाग्र कर अपने में स्थित आत्मा का ध्यान करना चाहिए।[30]

गुरु का उपदेश इसमें सहकारी बनता है। कहा भी है–

गुरुपदेशाभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।।
यः स जानाति मोक्ष सौख्यं निरन्तरम्।।[31]

अर्थात जो गुरु के उपदेश से अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और पर के अंतर (भेद) को जानता है वह मोक्ष सम्बन्धी सुख का अनुभव करता रहता है।

जीवन भावना भाता है कि—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।[32]

अर्थात् मैं एक, ममतारहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रों के द्वारा जानने लायक हूँ। संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न में व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्‌गले।।[33]

अर्थात् मेरी मृत्यु नहीं तब भय किसका? मुझे व्याधि नहीं तब पीड़ा कैसे? न मैं बाल हूँ, न मैं बूढा हूँ, न युवा हूँ; ये सब दशाएं पौद्‌गालिक शरीर में ही पायी जाती हैं।

अपनी आत्मा की सद् अभिलाषा होने से, अपने प्रिय पदार्थ आत्मा को जानने वाला होने से, अपने आप अपने हित का प्रयोग करने वाला होने से आत्मा ही आत्मा का गुरु है।[34] अतः कहते हैं कि—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।।[35]

अर्थात् अज्ञानरूप अंधकार को नष्ट करने वाली आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति महान ज्ञान रूप है। मोक्षाभिलाषी पुरुषों के लिए वही (उसी के विषय में) पूछना चाहिये, उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए, उसी का दर्शन करना चाहिए। क्योंकि—

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।[36]

अर्थात् दूसरा दूसरा ही है, इसलिये उससे दुःख होता है और आत्मा आत्मा ही है इसलिये उससे सुख होता है। इसलिये महात्माओं ने आत्मा के लिए ही उद्यम (पुरुषार्थ) किया है। और जब आत्मा में स्थिरता आ जाती है तो–

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति।।[37]

अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप के विषय में स्थिरता प्राप्त कर ली है ऐसा योगी बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

उक्त स्थिति आत्मयोगी की होती है। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य होता है कि उसे पुनः संसार में नहीं आना पड़े और उसे मोक्ष सुख मिले।

इस तरह आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने अपनी कृति 'इष्टोपदेश' के माध्यम से जीव को संसार के दुःखों से परिचित कराते हुए उसका हित आत्मरमण में ही है; इसका सच्चा अभीष्ट उपदेश दिया है; जो प्रत्येक मुमुक्षु के लिए मननीय एवं आचरणीय है।

सन्दर्भ

(1) आचार्य जिनसेन : आदिपुराण 1/52, (2) जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सख्या 40 पृ. 24, श्लोक 10-11, (3) आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव 1/15, (4) आचार्य पूज्यपाद - इष्टोपदेश - 51, (5) भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - 2/221, (6) वही, 2/221-230, (7) "हिंसानृतस्तेयाबह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" ; तत्त्वार्थसूत्र 7/1, (8) इष्टोपदेश - 3,
(9) वासना मात्रमैवेतत्, सुख दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि।। वही-6
(10) वही-10, (11) वही-28, (12) वही-11, (13) वही-8, (14) वही-19, (15) वही-21, (16) वही-50, (17) वही-13, (18) वही-14, (19) वही-16, (20) वही-17, (21) वही-7, (22) वही-23, (23) वही-37-38, (24) वही-24, (25) वही-48, (26) वही-26, (27) वही-30, (28) वही-32, (29) वही-4, (30) वही-22, (31) वही-33, (32) वही-27, (33) वही-29, (34) वही-34, (35) वही-49, (36) वही-45, (37) वही-41

—ए-27, नर्मदा विहार, सनावाद-451111 (म. प्र.)

प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित राजधर्मः सिद्धान्त एवं व्यवहार

–डॉ. मुकेश बंसल

सामान्यतः राजा के धर्म को राजधर्म कहा गया है। परन्तु संस्कृत साहित्य मे राजधर्म शब्द का प्रयोग इससे कहीं अधिक व्यापक रूप में किया गया है। महाभारत के शांति पर्व में शासन की कला एवं उससे संबंधित शास्त्र की चर्चा करते हुए राजधर्म को सभी धर्मो का सार एवं विश्व का सबसे बड़ा उद्देश्य बताया गया है।[1]

राजधर्म के अन्तर्गत राजा के कर्त्तव्य, आचार-विचार, व्यवहार, गुण तथा शासन के विभिन्न अंगों पर प्राचीन काल से ही चिन्तन-मनन होता रहा है। राजधर्म की विशेषता और महत्त्व के कारण ही वैशालाक्ष, बृहस्पति, उशना आदि के द्वारा शासन-संबंधी विषयों पर शास्त्र लिखे जाने का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है।[2] शुक्रनीतिसार में राजा को स्वर्ण युग का प्रवर्त्तक अथवा देश की विपत्ति, युद्ध एवं अशान्ति से रक्षा करने वाला बताते हुए उसके धर्म को राजधर्म माना गया हैं।[3] मनुस्मृति में राजधर्म शब्द का प्रयोग नृपतन्त्र अथवा राजतन्त्र के सामान्यतः प्रचलित सिद्धान्तों एवं नियमों के लिए किया गया है।[4] राजधर्म और राजशास्त्र पर्याय रूप में प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त किये गये हैं। महाभारत एवं अर्थशास्त्र सहित विभिन्न ग्रन्थों में राजधर्म को राजशास्त्र अथवा राज्यानुशासन के अर्थो में प्रयुक्त किया गया है।[5] प्रमुख स्मृतियों में राज्य-व्यवस्था का वर्णन राजधर्म के नाम से किया गया है। समाज के विभिन्न वर्गो के कर्त्तव्यों का वर्णन करने वाले धर्मशास्त्रों अथवा इतिहास-पुराण ग्रंथों में राज्य-संबंधी नियमों का वर्णन, राजा के कर्त्तव्य के रूप में राजधर्म के नाम से किया गया है। राजधर्म के जो नियम स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रों में दिये गये हैं, उन्हे उसी प्रकार विभिन्न राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित ग्रंथों

में मान्यता प्रदान की गयी है। यदि कुछ भेद हैं भी तो वे सैद्धान्तिक न होकर विस्तार-भेद-मात्र हैं।

धर्मशास्त्रों में राज्यानुशासन को अत्यन्त गंभीर विषय स्वीकार करते हुए इस बात पर जोर दिया गया है कि शासन-व्यवस्था को चलानेवाले व्यक्ति अर्थात् राजा, पुरोहित, मंत्री आदि सभी राजधर्म के ज्ञाता अथवा श्रुतिवान् होने चाहिए।[6] महाभारत के शान्तिपर्व के राजधर्मपर्व के विभिन्न अध्यायों में राजा और मन्त्रियों के कर्त्तव्यों व उत्तरदायित्वों, कर-व्यवस्था, सैन्य-व्यवस्था एवं शासन के विभिन्न अंगों का जो विशद विवरण प्राप्त होता है वह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों से अधिक विस्तृत और सांगोपांग है।[7] शान्तिपर्व के अतिरिक्त महाभारत के कुछ अन्य अध्यायों में भी राजधर्म-सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है, जिसमें सभापर्व, आदिपर्व एवं वनपर्व प्रमुख हैं।[8] महाभारत में मुख्य रूप से राजा के कर्त्तव्यों को राजधर्म कहा गया है, इसी के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के साथ ही राजा और शासन के संबंधों को भी समझा गया है। भीष्म ने तो सभी धर्मो में राजधर्म को श्रेष्ठ मानते हुए इसी के द्वारा सभी वर्णो का परिपालन संभव माना हैं।[9] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में राजनीति को अनेक नामों से पुकारा गया है। राजशास्त्रप्रणेताओं ने इसे राजधर्म के अतिरिक्त दण्डनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि नामों से पुकारा है परन्तु समाज के जिस प्रमुख तत्त्व की प्रधानता जिस ग्रंथ में विशेष रूप से दी गयी है उस ग्रंथ को तदनुसार नाम दे दिया गया। यदि सूक्ष्मता से विवेचन किया जाय तो ज्ञात होता है कि नामों की भिन्नता के अतिरिक्त इन समस्त ग्रंथों में वर्णित विषय राजनीति अथवा राज्यानुशासन से संबंधित है। राजा, राज्य की समृद्धि तथा प्रजा के कल्याण के लिए धनोपार्जन करता था, उसे संरक्षण प्रदान करता था तथा प्रजा को कष्ट देनेवाले समाज विरोधी-तत्त्वों को दण्ड भी देता था। राजा के इन कार्यो को देखते हुए इसे दण्डनीति नाम दे दिया गया। मनु ने भी स्वीकारा है कि दण्ड के द्वारा ही राजा कुशल शासक बनता है।[10] मनुष्य द्वारा अपने जीवन में श्रेष्ठ आचरण करने के लिए जिन नैतिक मूल्यों को प्रतिपादित किया गया, वे सभी नीतिशास्त्र में वर्णित हैं। चूंकि राजा ही अपने प्रभाव और कृत्यों से प्रजा को नैतिक आचार

के लिए प्रेरित करता है एवं उन्हें तोड़ने पर दंडित करता है अतः इसे राजा का नीतिशास्त्र कहा गया है।

यद्यपि राजधर्म अथवा राजनीति को सामाजिक जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है, तथापि धर्मग्रंथों में यह भी स्वीकारा गया है कि राजनीति को इतना अधिक महत्त्व भी नहीं देना चाहिये कि समाज, जीवन और उनके नियम राजनीति के आधीन ही हो जाये। दूसरे शब्दों में धर्म-नियम राजधर्म अथवा अर्थशास्त्र अथवा राजशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं चलते चाहिए अपितु राजनीति के नियम धर्मशास्त्रों के अनुसार बनाये जाने चाहिए। **यदि कहीं धर्मशास्त्रों के नियम और राजधर्म के नियमों में भेद जान पड़े और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाय, तो धर्मशास्त्रों के नियमों को ही श्रेष्ठ मानना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धर्मशास्त्र राजनीति अथवा राजधर्म से बलवान है।**[11] कौटिल्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि व्यावहारिक शास्त्र और धर्मशास्त्र में जहाँ परस्पर विरोध हो, वहाँ धर्मशास्त्र के अनुसार ही अर्थ लगाये जाने चाहिए।[12] यही कारण है कि राजधर्म-संबंधी जो नियम स्मृतियों में दिये गये हैं, उन्हें उन्हीं रूप में महाकाव्यों, दृश्यकाव्यों व अर्थशास्त्र आदि ने भी मान्यता प्रदान की है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र प्रणेताओं ने प्रजापालन एवं शासन-प्रबंध को व्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चलाने तथा राजा के अपने चरित्र को नियंत्रित करने के लिए कुछ नियमों एवं प्रतिबंधों का निर्माण किया। ये नियम और प्रतिबंध ही महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में राजधर्म के नाम से विख्यात हुए। इन नियमों एवं प्रतिबंधों का उद्देश्य राजा की उच्छृंखलता पर नियंत्रण करना-मात्र था।

राजधर्म के दो प्रकार माने गये हैं– सामान्यधर्म और आपद्धर्म। इन दोनों प्रकार के धर्मो अर्थात् कर्त्तव्यों में सामान्य धर्म ही सार्वकालिक था। राजा पर विपत्ति का आना सम्पूर्ण प्रजा पर विपत्ति का द्योतक था। अतः उन संकटकालीन परिस्थितियों में राजा द्वारा आपद्धर्म का निर्वाह किया जाता था। इस धर्म का पालन कर राजा जहाँ अपयश से बचता था, वहीं कालान्तर

में अपनी शक्ति बढ़ाकर तथा आपदाओं से उबरकर पूर्व स्थिति प्रदान करने का प्रयास करता था। वस्तुतः सामान्य धर्म (कर्त्तव्य) को दो भागों में बॉटा गया है– वैयक्तिक कर्त्तव्य तथा सामाजिक कर्त्तव्य। राजा के वैयक्तिक कर्त्तव्यों में आत्म-नियन्त्रण, आचरण, धर्म, नीतियों का पालन एवं वैयक्तिक सुरक्षा सम्मिलित किये गये थे, जिनका प्रजा पर उचित व अनुकूल प्रभाव पड़ता था। सार्वजनिक कर्त्तव्यों में नीति-निर्धारण, दण्ड-विधान एवं वे समस्त क्रिया-कलाप सम्मिलित किये गये, जिनका सीधा संबंध प्रजा के सुख व कल्याण से था।[13] अतः प्रजारंजन एवं प्रजा-अनुपालन के लिए शासन के विभिन्न अंगों का सम्यक् प्रयोग करते हुए राजा को जिस धर्म अथवा कर्त्तव्य का पालन अनिवार्यतः करना पड़ता था, वहीं राजधर्म कहा गया है।

राजधर्म का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष माना गया, जो दार्शनिक विचारधारा पर आधारित था। राज्य के प्रतिनिधि के रूप में राजा का ध्येय प्रजा के लिए शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करते हुए ऐसा वातावरण उत्पन्न करना था जिसमें सम्पूर्ण प्रजा सुखमय जीवन व्यतीत करती हुई अपने व्यवसाय, उद्योग, परम्परा, रूढ़ियों एवं धर्म का निर्विरोध पालन करे और अपनी अर्जित सम्पति और सुखों का भोग कर सके।

राजा शान्ति-व्यवस्था एवं सुख प्रदान करने का साधनमात्र था। राजा ही अपनी प्रजा के इहलोक एवं परलोक को सुरक्षित रखता था। उसका धर्म (कर्त्तव्य) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सम्पति के अधिकारों की अवहेलना करनेवालों के विरुद्ध दण्ड का सम्यक् प्रयोग करते हुए प्रजा के परम्परागत रीति-रिवाजों को प्रतिपालित करने के लिए, नियम बनाना तथा सद्गुणों एवं धर्म की रक्षा करना था।[14] कौटिल्य ने भी स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा को यह देखना चाहिए कि लोग कर्त्तव्यच्युत न हों। क्योंकि जो अपने धर्म में तत्पर रहता है और आर्यो के लिए बने नियमों का पालन करता है, वर्णो एवं आश्रम के नियमों का सम्मान करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों में प्रसन्न रहता है।[15]

जो राजा न्याय एवं नियमों का सम्यक् पालन करता है, वह अपने एवं

प्रजाजनों को त्रिवर्ग अर्थात् तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम प्रदान करता है, यदि वह ऐसा नहीं करता है तो, वह अपना एवं अपनी प्रजा का सर्वनाश करता है।[16]

स्पष्ट है कि राजा प्रजा को वर्णाश्रम धर्म पालन करने पर बाध्य करता था और उनके धर्मच्युत होने पर वह अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए उन्हें दण्डित भी करता था। प्रत्येक जाति को परम्परागत नियमों का अनिवार्यतः पालन करना पड़ता था और यदि कोई व्यक्ति उन नियमों को तोड़ता था तो उसे दण्ड का भागी होना पड़ता था।[17] कर्त्तव्य-पालन में वाधा डालनेवाले लोगों को दण्डित करना, जो पीढ़ियों से पूज्य है एवं समाज के लिए आदर्श हैं उनकी रक्षा करना तथा प्रजा के लिए पुरुषार्थ-प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना राजा का परम धर्म (कर्त्तव्य) माना गया है।

सोमदेव ने अपने ग्रंथ नीतिवाक्यामृत का शुभारम्भ उस राज्य को प्रणाम करके किया, जो धर्म, अर्थ और काम तीन फल प्रदान करता है– धमार्थकामफलाय राज्याय नमः।[18] कामन्दक ने स्पष्ट किया है कि निपुण मन्त्रियों द्वारा संभाला गया राज्य त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति कराता है।[19] प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में धर्म को राज्य की परमशक्ति मानते हुए उसे राजा से भी ऊपर रखा गया है। राजा तो साधक मात्र है, जिसके द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है, वह स्वयं में साध्य नही है।

प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों द्वारा प्रतिपादित राजधर्म संबंधी सिद्धान्त एवं आदर्श, धर्म पर आधारित थे, जिस कारण राजाओं और उनके अधीनस्थ अधिकारियों में नैतिक भावना विद्यमान थी। किन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था में विभिन्न दोष परिलक्षित होने लगे थे, क्योंकि राजा एक प्रकार से शासन का पर्याय बन गया था किन्तु राज्यानुशासन के नियम यथावत् चलते रहे, फलतः राजा और प्रजा के बीच न तो कोई शक्तिशाली एवं विरोधी वर्ग ही उपस्थित हो सका और न ही कोई धार्मिक संस्था। लगभग दो सहस्र वर्षो तक राजधर्म के सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न होने के कारण विचारों तथा व्यवस्था में एक शून्यता आ गई।

ईस्वी प्रथम शताब्दी के बाद भारत पर विभिन्न बाह्य आक्रमणों का तांता लग गया और विदेशी आक्रान्ता भारत में लगातार लूटमार एवं अत्याचार करते रहे, जिनके कटु अनुभवों के कारण भारतीय राजनीतिक विचारकों तथा राजन्य कार्यों में संलग्न क्षत्रिय वर्ग में एक नवीन चेतना उत्पन्न हुई फलस्वरूप भारत के विभिन्न छोटे बड़े राज्यों को एकता के सूत्र में बांधकर विदेशी आक्रान्ताओं से भारत भूमि की रक्षा का विचार उत्पन्न हुआ। भारतीय राजनीतिक विचारकों में भी एक क्रान्ति प्रस्फुटिक हुई किन्तु इन विचारकों ने केवल अपने पूर्व के प्रचलित सिद्धान्तों को दोहराने में ही अपनी विद्वत्ता समझी, कोई नवीन संस्कृति के मंत्र को फूकना उचित नहीं समझा। परिणामतः भारत में देश-भक्ति की अग्नि नहीं सुलगाई जा सकी और न ही कोई परिपक्व नवीन राजधर्म संबंधी विचारधारा पनप सकी, जो राष्ट्र को परिपक्व संस्कृति की ओर अग्रसर कर पाती।

सन्दर्भ-संकेत

1. महाभारत, शान्तिर्व, 56/130, 2. महाभारत, शान्तिपर्व, 59/30, 3. शुक्रनीति., 4/1/60, 4. मनुस्मृति अध्याय, 7, 5. महाभारत, शान्तिपर्व, 63/29, 6 कामान्दक., 1/21, 7. अल्टेकर, ए. एस., भारतीय शासन पद्धति, पृ. 7, 8 महाभारत, सभापर्व, अध्याय-5; आदिपर्व, अध्याय-142; वनपर्व, अध्याय-25, 9. महाभारत, शान्तिपर्व, 63/27, 10 मनुस्मृति, 7/8, 11. याज्ञवल्क्य., 2/21, 12 अर्थशास्त्र, 3/1/56, 13. बेनी प्रसाद, थ्योरी आफ गवर्नमेण्ट इन एनशियण्ट इंडिया, पृ. 75, 14 शकुन्तला रानी, महाभारत के धर्म, पृ 271-273, 15. अर्थशास्त्र, 1/4, 16. महाभारत, शान्तिपर्व, 85/2, 17 शुक्रनीति 4/439, 18. नीतिवाक्यामृत, 1/1, 19. कामन्दक 4/47

—रीडर-इतिहास विभाग
एस. डी. कॉलेज, मुजफ्फरनगर

सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण

—पं. सनत कुमार, विनोद कुमार जैन

जैन दर्शन में जहाँ जीवन को संयमित/संतुलित बनाने का निर्देश है, वहाँ मरण को भी सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी गई है। सुखमय भविष्य के लिये जीवन को जितना सुसंस्कारित करना आवश्यक है उतना ही मरण को व्यवस्थित करना आवश्यक होता है। हमने अपने जीवन को अनेक भव धारण करने पर भी सुखी नहीं बना पाया। यदि एक बार मरण समाधिपूर्वक हो जावे तो हमारा जीवन सुखमय हो जावेगा। एक मरण को सुव्यवस्थित करने के लिए हमें जीवन भर मरने की तैयारी करनी पड़ेगी तब हम सफल समाधि मरण कर सकेंगे। आचार्यो ने बारह व्रतों के पालन करने के उपरान्त मरण के समय प्रीतिपूर्वक सल्लेखना व्रत ग्रहण करने को कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र में बारह व्रतों के स्वरूप, भावना और अतिचारों के साथ सल्लेखना व्रत का भी वर्णन किया है। सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण करने के लिये जीवन भर बारह व्रतों का पालन किया जाता है। सल्लेखना में शरीर और कषाय को कृश करने का निर्देश किया है—

सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना।।[1]

अर्थात—भली प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना सल्लेखना है।

लिखेर्ण्यन्तस्य लेखना तनुकरणमिति यावत्।।[2]

अर्थात— लिख् धातु में णि प्रत्यय करने से लेखना शब्द बनता हैं उसका अर्थ तनुकरण यानी कृश करना है।

शरीर की कृशता के साथ कषाय की कृशता अनिवार्य है इसे संयम साधना की अंतिम क्रिया कहा जाता है। जीवन भर किये गये तप का फल निर्दोष, निरतिचार समाधि है। अंतिम समय में समाधि के समय जितनी

विशुद्धि, दृढ़ता, आत्म लीनता, राग द्वेपनिवृति, संसार स्वरूप का चिन्तन और आत्म स्वरूप में ही विचारों का केन्द्रित होना होगा समाधि उतनी निर्दोष होगी। मन में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, मोह, भय, शोक आदि विकारी भावों को मन से दूर करके मन को अत्यन्त शान्त या समाधान रूप करके वीतराग भावों के साथ सहर्ष प्राण त्याग करने को समाधिमरण कहते हैं।[3] अर्थात् – भावों की विशुद्धिपूर्वक मरण करना समाधिमरण है।

मन को जितना विशुद्ध बनाया जावेगा समाधि उतनी श्रेष्ठ होगी। वचन और काय की क्रिया से अलग मन की विशुद्धि समाधि है।

वयणोच्चारण किरियं परिचत्तावीयराय भावेण।
जो झायदि अप्पाणं परम समाहि हवे तस्स।।
संजम णियम तवेण दु धम्मज्झाणेण सुक्क झाणेण।
जो झायइ अप्पाणं परम समाहि हवे तस्स।।[4]

अर्थात् – वचनोच्चार की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है उसे परम समाधि कहते हैं। संयम नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान से जो आत्मा को ध्याता वह परम समाधि है। ऐसे चिन्तन पूर्वक समाधिमरण करने से भवों का अन्त होता है। अज्ञानी शरीर द्वारा जीव का त्याग करते हैं और ज्ञानी जीव द्वारा शरीर का त्याग करते हैं। अतः ज्ञानी जन का मरण ही सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण होता है। शरीर अपवित्र और नाशवान है किन्तु वह तप का साधन होने से भव समुद्र को पार करने को नौका के समान है। इसके माध्यम से तप धारण कर कर्मो का संवर और निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। यदि यह शरीर संयम तप आदि की विराधना में कारण बनने लगे तो धर्म के लिये शरीर का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि शरीर तो अनेक बार प्राप्त हुआ है और होगा भी किन्तु धर्म हमने अभी तक ग्रहण नहीं किया यदि वह धर्म छूट गया तो कब अवसर आयेगा कहा नहीं जा सकता। शरीर का अन्त जान लेने पर शरीर से धर्म साधन में बाधा आने पर सल्लेखना ग्रहण करना चाहिये–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्या।।[5]

अर्थात् – प्रतिकार रहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित हो जाने पर धर्म के लिये शरीर के छोड़ने को गणधर देव सल्लेखना कहते हैं। सल्लेखना दो प्रकार से की जाती है 1 काय सल्लेखना और 2 कषाय सल्लेखना। आहार आदि का शरीर की स्थिति देखकर क्रम से त्याग करके शरीर कृश करना काय सल्लेखना है और संसार शरीर और भोगों से विरक्त होता हुआ जो कषायों को कृश किया जाता है वह कषाय सल्लेखना कहलाती है।

मरण प्रकृति का शाश्वत नियम है, जन्म लेने वाले का मरण निश्चित है। मरण के स्वरूप की जानकारी होने पर मरण के समय होने वाली आकुलता से बचा जा सकता है। मोह के कारण जीव मरण के नाम से ही भयभीत रहता है अतः ज्ञानी जीव ही मरण भय से रहित होता है।

स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणं।।[6]

अर्थात् – अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का और मन, वचन, काय इन तीन बलों का कारण विशेष मिलने पर नाश होना मरण है। दूसरे प्रकार से आयु कर्म का क्षय होना मरण कहलाता है।

आयुषः क्षयस्य मरणहेत्वात्।।[7]

अर्थात – आयु कर्म के क्षय को मरण का कारण माना है। उपरोक्त मरण में नए शरीर को धारण करने के लिए पूर्व शरीर का नष्ट होना तद्भव मरण कहलाता है। एवं प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना नित्य मरण कहलाता है सम्यदर्शन, सम्यक् चारित्र, संयम आदि की अपेक्षा मरण के भेदों को अन्य प्रकार से भी कहा गया है–

पंडिद पंडिद मरणं, पंडिदयं बाल पंडिद चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बाल बालं च।।[8]

अर्थात् – पंडित-पंडित मरण, पंडित मरण, बाल पंडित मरण, बाल मरण और बाल-बाल मरण ये मरण के पॉच भेद कहे गये हैं। इनमें प्रथम तीन मरण ही प्रशंसनीय हैं। प्रथम पंडित पंडित मरण से केवलि भगवान निर्वाण प्राप्त करते हैं। उत्तम चारित्र के धारी साधुओं के पंडित मरण होता है। विरताविरत जीवों के तीसरा बाल पंडित मरण होता है। बाल मरण अविरत सम्यक् दृष्टि के और बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है।

दूसरे पंडित मरण के प्रायोपगमन मरण इंगनि मरण और भक्त प्रत्याख्यान या भक्त प्रतिज्ञा मरण ये तीन भेद होते है।

आहारादिक को क्रम से त्याग करके शरीर को कृश करने की अपेक्षा तीनों मरण समान हैं। इनमें शरीर के प्रति उपेक्षा के भाव का ही अन्तर है। जो मुनि न तो स्वयं अपनी सेवा करते हैं, और न ही दूसरों से सेवा, वैयावृत्ति कराते हैं। तृणादि का संस्तर भी नहीं रखते, इस प्रकार स्व-पर के उपकार से रहित शरीर से निस्पृह होकर स्थिरतापूर्वक मन को विशुद्ध बनाकर मरण को प्राप्त करते हैं। उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं। जिसमें सल्लेखनाधारी अपने शरीर की सेवा, परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरों से सेवा वैयावृत्ति नहीं कराता उसे इंगनि मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा। इस तरह वह अपनी समस्त क्रियायें स्वयं करता है। जिस संन्यास मरण में अपने और दूसरों के द्वारा किये गये उपकार वैयावृत्ति की अपेक्षा रहती है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

भव का अन्त करने योग्य संस्थान और संहनन को प्रायोग्य कहते हैं। इनकी प्राप्ति होना प्रायोपगमन है। अर्थात् विशिष्ट संहनन व विशिष्ट संस्थान वाले ही प्रायोग्य ग्रहण करते हैं।

स्व अभिप्राय को इंगित कहते हैं। अपने अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुये जो मरण होता है, वह इंगनि मरण कहलाता है। भक्त शब्द का अर्थ आहार है और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है जिसमें क्रम से आहारादि का त्याग करते हुये मरण किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।

यद्यपि आहार त्याग उपरोक्त दोनों मरणों में भी होता है, तो भी इस लक्षण का प्रयोग रूढ़ि वश मरण विशेष में ही कहा गया है।

भक्त प्रत्याख्यान मरण सविचार और अविचार के भेद से दो प्रकार का है। नाना प्रकार के चारित्र का पालना, चारित्र में विहार करना विचार है। इस विचार के साथ जो वर्तता है वह सविचार है। जो गृहस्थ अथवा मुनि उत्साह या बल युक्त हैं और जिसका मरण काल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है। अर्थात् जिसका मरण दीर्घकाल के बाद होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। इसमें आचार्य पद त्याग, पर गण गमन, सबसे क्षमा, आलोचना पूर्वक प्रायश्चित ग्रहण विशेष भावनाओं का चिन्तन, क्रम पूर्वक आहार का त्याग आदि कार्य व्यवस्थित रहते हैं। जिनकी सामर्थ्य नहीं है, जिनका मरण काल सहसा उत्पन्न हुआ है, ऐसे पराक्रम रहित साधु के मरण को अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। यह तीन प्रकार का है। (1) निरुद्ध, (2) निरुद्धतर, (3) परमनिरुद्ध। रोगों से पीड़ित होने के कारण जिनका जंघा बल क्षीण हो गया हो, जिससे परगण में जाने से अमसर्थ हो वे मुनि निरुद्ध विचार भक्त प्रत्याख्यान मरण करते हैं। इसके प्रकाश और अप्रकाश दो भेद हैं। क्षपक के मनोबल अर्थात् धैर्य, क्षेत्रकाल उनके वान्धव आदि का विचार करके अनुकूल कारणों के होने पर उस मरण को प्रकट किया जाता है वह प्रकाश है। और प्रकट न करना अप्रकाश है। सर्प, अग्नि, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रीछ, शत्रु, चोर म्लेक्ष, मूर्छा, तीव्रशूल रोग आदि से तत्काल मरण का प्रसंग होने पर जब तक काय बल शेष रहता है और जब तक तीव्र वेदना से चित्त आकुलित नहीं होता और प्रतिक्षण आयु का क्षीण होना जानकर अपने गण के आचार्य के पास अपने पूर्व दोषों की आलोचना कर जो मरण करता है वह निरुद्धतर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण है।

सर्प अग्नि आदि कारणों से पीड़ित साधु के शरीर का बल और वचन का बल यदि क्षीण हो जाये तो उसे परमनिरुद्ध अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं।[9] अपने आयुष्य को शीघ्र क्षीण होता जानकर शीघ्र ही मन में अर्हत व सिद्ध परमेष्ठी को धारण करके उनसे अपने दोषों की आलोचना करे तथा

सर्व शल्य रहित ममत्व रहित होकर मोक्ष प्राप्ति के लिये दो प्रकार का संन्यास धारण करने का निर्देश प्राप्त होता है–

अस्मिन् देशेऽवधौकालेयदि मे प्राणमोचनम्।
तदास्तु जन्मपर्यन्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधम्।।
जीविष्यामि क्वचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात्।।
करष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये।।[10]

अर्थात् – पहिला संन्यास इस प्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जायें तो मेरे जन्म पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग है। तथा दूसरे संन्यास को इस प्रकार धारण करना चाहिये कि यदि में अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊँगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद पारणा करुँगा। इस प्रकार सहसा मरण काल आने पर अपने मन को विशुद्ध बनाता हुआ आहारादिक त्याग स्वयं भी कर सकता है, क्योंकि मरण काल में भावों की विशुद्धि का ही विशेष महत्व होता है। श्रावकों को मरण काल में महाव्रत ग्रहण कर लेना चाहिये, जिससे परिणाम विशुद्ध बनते हैं। इसके लिये भी क्रम से त्याग करना चाहिये।

धरिऊण वत्थमेत्तं परिग्गहं छंडिऊण अवसेसं।
सगिहे जिणालय वा तिविहा हारस्स वोसरणं।।[11]

अर्थात् – वस्त्र मात्र परिग्रह को रखकर और अवशिष्ट समस्त परिग्रह को छोड़कर अपने ही घर में अथवा जिनालय में रहकर श्रावक गुरु के पास में मन, वचन और काय से अपनी भली प्रकार आलोचना करता है और पानी के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग करता है। श्रावक अन्त समय में स्नेह, बैर और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध होता हुआ प्रिय वचनों से अपने कुटुम्बियों और नौकरों से क्षमा कराते हुये आप भी सब को क्षमा करे। समस्त पापों की आलोचना करे और मरण पर्यन्त रहने वाले महाव्रतों को धारण करे।[12] यदि चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहने से वह दीक्षा ग्रहण नहीं कर सकता

तो मरण समय उपस्थित होने पर संस्तर श्रमण हो जाना चाहिये। यदि यह भी शक्य न हो तो सल्लेखना का अनुष्ठान करते हुये क्रम से आहार आदि का त्याग करना चाहिये।[13] धनवान और धन रहित श्रावकों को भी ग्रन्थों में अन्त समय के लिये मार्ग प्रशस्त किया गया है–

तत्कर्तुं गुरुणा दत्त प्रायश्चित्तं तपोऽक्षमा।
धनिनो ये जिनागारे स्वयं सर्वत्र शुद्धये।।
दद्युर्धनं स्वशक्त्या ते परे दोषादिहानये।
प्रायश्चित्तं तु कुर्वन्तु तपां अनशनादिभिः।।[14]

अर्थात् – समाधिमरण के लिये उद्यत धनी गृहस्थ गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित तप को धारण करने में असमर्थ हो तो वे स्वयं शुद्धि के लिये जिनालय में धन का दान करे। तथा दूसरे लोग अपनी शुद्धि के लिये शक्ति अनुसार अनशन, ऊनोदर आदि के द्वारा अपने पापों की शुद्धि करें। धन के प्रति आसक्ति कम करने के लिये धन दान करने का निर्देश दिया गया है। श्रावकों को अन्त समय में महाव्रत अवश्य धारण करना चाहिये। महाव्रत धारण करने में ही श्रावक धर्म की सफलता मानी जाती है। शरीर के अन्तिम संस्कार के समय तीर्थकरों, गणधर देवों, सामान्यकेवलि एवं महाव्रतियों के शरीर के अन्तिम संस्कार का ही वर्णन शास्त्रों में मिलता है अतः प्रतिफलित होता है कि श्रावकों को अन्त समय में महाव्रती अवश्य होना चाहिये। समाधि मरण करने वाला प्रीति, बैर, ममत्व भाव और परिग्रह को छोड़कर स्वच्छ हृदय होता हुआ मधुर वचनों से क्षमा करता और कराता है। शरीर को भार स्वरूप समझता है। किसी प्रकार का शोक नहीं करता है, भूख प्यास की बाधा सहन होगी की नहीं यह सोच समाप्त हो जाती है और क्रम क्रम से आहार का त्याग करता है। एक साथ पूर्ण आहार त्याग देने से क्षपक को आकुलता हो सकती है, अतः सल्लेखना विधि कराने वाले निर्यापकाचार्य क्षपक की शक्ति को देखकर क्रम से आहार का त्याग कराते हैं। प्रथम कवलाहार (दाल, चावल रोटी आदि) का त्याग कराकर स्निग्ध पेय दूध आदि देते हैं। इसके बाद छाछ देकर इसका भी त्याग कराके मात्र गर्म जल देते हैं। शक्ति

के अनुसार उपवास करते हुये पंच परमेष्ठी का स्मरण कर शरीर का त्याग किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में सल्लेखना कराने वाले आचार्य (निर्यपकाचार्य) की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। क्योंकि रोग की वेदना, तीव्र राग का उदय, विषयों की लिप्तता आदि के समय मन विचलित होने लगता है तब निर्यापकाचार्य अपने संबोधन से क्षपक के विचारों में स्थिरता प्रदान करते हैं। अतः श्रेष्ठ निर्यापकाचार्य होना आवश्यक है। निर्यापकाचार्य के आठ गुण कहे गये हैं।

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः।
आयापाय दृगुत्पीड़ी सुख कार्य परिस्रवः।।[15]

अर्थात् – आचार वान, आधार वान, व्यवहार वान प्रकारक (कर्त्ता) आयापाय दृग, उत्पीड़क और परिस्रावी इन आठ गुणों से सहित निर्यापकाचार्य होना चाहिये। क्योंकि बिना आचार्य के उपदेश के मन की शुद्धि, स्थिरता नहीं होती है।

काल की अपेक्षा सल्लेखना उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार की होती है। उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम काल के असंख्यात भेद है। जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट बारह वर्ष की सल्लेखना में आहारादि के त्याग का क्रम निम्नानुसार है–

जोगेहिं विचित्तेहिं दुखवेइ संवच्छ राणी चत्तारि।
वियडीणि य जूहित्ता चत्तारि पुणो वि सोसेई।।
आयंविलणि व्वियडी हिंदोण्णि आयं विलेण एक्कं च।
अद्धंणा दि विगट्ठे हिं तदो अद्धं विगट्ठे हिं।।[16]

अर्थात् – विचित्र प्रकार के काय क्लेशादि योग से चार वर्ष पूर्ण करे पश्चात चार वर्ष रस रहित भोजन से शरीर कृश करे। आचाम्ल (अल्पाहार) तथा नीरस भोजन से दो वर्ष पूर्ण करे पश्चात अल्पाहार से एक वर्ष पूर्ण करे। इसके बाद छह महीने अनुत्कृष्ट तप करे और अंतिम छह महिने उत्कृष्ट तप कर बारह वर्ष पूर्ण करे। समाधि में आचार्य को क्षपक के भावों की स्थिरता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यदि भावों में कोई विकार आ जावे तो समाधि विकृत हो

जाती है। अतः निर्दोष और निर्विघ्न समाधि करने के लिये उत्कृष्ट अड़तालीस परिचारक मुनियों की आवश्यकता होती है। मध्यम रीति से परिचर्या करने वाले साधुओं की संख्या चार-चार कम करते जाना चाहिये। अत्यन्त निकृष्ट में भरत क्षेत्र ऐरावत क्षेत्र में जघन्य रूप से दो मुनिराज निर्यापक परिचारक पद से ग्रहण करना चाहिये। अकेला एक साधु समाधि कराने में समर्थ नहीं होता है। और निर्यापक के बिना क्षपक अशान्ति से मृत्यु को प्राप्त करता है अतः भयानक दुर्गति में जाता है। निर्दोष उत्कृष्ट समाधि में अड़तालीस साधुओं का कार्य विभाजन निम्न प्रकार से किया जाता है। चार मुनि आहार लाते हैं। चार मुनि पेय पदार्थ लाते हैं। चार मुनि आहार पान का रक्षण करते हैं चार मुनि क्षपक के मल मूत्र को साफ करते हैं। एवं सूर्योदय और सूर्यास्त के समय व सातिका, उपकरण और संस्तर आदि का शोधन करते हैं। चार मुनि वसतिका के द्वार का और चार मुनि समवशरण के द्वार का प्रयत्नपूर्वक रक्षण करते हैं। चार मुनि उपदेश मण्डप का रक्षण करते हैं। चार मुनि क्षपक के पास रात्रि जागरण करते हैं। चार मुनि निवास स्थान के बाह्य क्षेत्र की शुभाशुभ वार्ता का निरीक्षण करते हैं। चार मुनि श्रोताओं को उपदेश देते हैं चार मुनि वाद-विवाद करने वालों के साथ वाद-विवाद करके सिद्धान्त का रक्षण करते है। और चार मुनि राज धर्मकथा करने वालों का रक्षण करते हैं। अर्थात् बराबर व्यवस्था बनाये रखने को इधर-उधर घूमते रहते हैं। इस प्रकार उत्कृष्टतः अड़तालीस परिचारक मुनि संसार समुद्र से प्रयाण करने वाले क्षपक को रत्नत्रय पूर्वक समाधि में लगाये रहते हैं। किन्तु क्षपक को प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, उपदेश, तीन प्रकार के आहार का त्याग एवं प्रश्न आदि करने का कार्य निर्यापकाचार्य ही करते हैं।[17] क्षपक को रोगादि से मुक्ति के लिये जिनवचन ही औषधि हैं ऐसा उपदेश देकर जिन धर्म में दृढ़ता करके आराधनाओं की आराधना में लीनता प्रदान की जाती हैं। जो क्षपक सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की उत्कृष्ट आराधना करते हैं वे उसी भव से सिद्धत्व प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना करने वाले धीर वीर पुरुष तीन भव में कर्म रहित अवस्था अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। जघन्य आराधना करने वाले सात जन्मों में सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

समाधि की अनुमोदना करने वाले और क्षपक के दर्शन करने वाले भी समाधि पूर्वक मरण कर निकट भव में सिद्धत्व प्राप्त करते हैं।

सल्लेखना मनुष्य भव की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। हमें अपना जीवन सुखी बनाने के लिये सल्लेखना पूर्वक समाधिमरण करना चाहिये। आज तक हम ने एक बार भी समाधिपूर्वक मरण नहीं किया है। मरणों के अनेक भेद जानकर हमें संस्थान और संहनन को देखते हुये पंडित मरण में सविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण की भूमिका में पहुँचकर समाधि मरण करना चाहिये। समाधि की भावना आज से ही मन में बनाकर जहाँ समाधि हो वहाँ क्षपक के दर्शन कर अनुमोदना अवश्य करना चाहिये। क्योंकि अनुमोदना करने वाले की अवश्य ही समाधि होती है। अतः निरन्तर समाधिमरण की भावना करते रहना चाहिये—

दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं
जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं।

संदर्भ

1. सवार्थ सिद्धि-7/22, 2 राजवार्तिक 7/22/3, 3 समाधिमरणोत्सव दीपक-1, 4. नियमसार-122-123, 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/1, 6. सवार्थसिद्धि 7/22, 7. धवला 1-1 1.33, 8 भगवती आराधना 26, 9. भगवती आराधना 2011 से 2024, 10. मूलाचार प्रदीप 2819-2820, 11. वसुनंदि श्रावकाच.र 271, 12 रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/4, 13. सावय पन्नति 378, 14. समाधिमरणोत्सव दीपक 35, 15. मरणकण्डिका 433, 16. भगवती आराधना 258, 259, 17. समाधि दीपक 21.22 पृ.-1

—रजवॉस, जिला-सागर (म. प्र.)

श्रावक साधना की सीढ़ियां : प्रतिमाएँ

—डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

मोक्षमार्ग पर आरूढ़ श्रावक अपनी भूमिका के अनुसार साधना करता है। साधना के द्वारा ही वह आत्मगुणों के विकास को प्राप्त हो सकता है। वह श्रमण का उपासक होता है। अतः उनसे तत्त्वज्ञान को जानकर/सुनकर ही जीवन पथ पर बढ़ता है। मूलगुण और उत्तरगुण में निष्ठा रखता है। अरिहन्त आदि पञ्चगुरुओं के चरणों को ही अपनी शरण मानता है। दान और पूजा जिसके प्रधान कार्य हैं तथा ज्ञानरूपी अमृत को पीने को इच्छुक होता है।[1] श्रावक पद का अर्थ करते हुए विद्वान् लिखते हैं– "अभ्युपेतसम्यक्त्वः प्रतिपन्नाणुव्रतोऽपि प्रतिदिवसं यतिभ्यः सकाशात्साधूनामागारिणाञ्च सामाचारीं शृणोतीति श्रावकः"[2] अर्थात् जो सम्यक्त्वी और अणुव्रती होने पर भी प्रतिदिन साधुओं से गृहस्थ और मुनियों के आचार को सुने, वह श्रावक है। उसी का विस्तार करते हुए और भी लिखा है कि जो श्रद्धालु होकर जैनशासन को सुने, दीनजनों में अर्थ को तत्काल वपन करे, सम्यग्दर्शन को वरण करे, सुकृत और पुण्य कार्य करे, संयम का आचरण करे, उसे विचक्षण जन श्रावक कहते हैं।[3] श्रावक आत्मकल्याण के लिए गुरुओं की साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण कर देशसंयमी अणुव्रती देशविरत आदि संज्ञाओं से विभूषित रहता है। संयतासंयत पञ्चम गुणस्थानवर्ती होता है क्योंकि वह स्थूल त्रस जीवादि की हिंसा से विरत होने के कारण संयत और सूक्ष्म या स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होने के कारण असंयत है अतः उसकी संयतासंयत संज्ञा व्रत ग्रहण करने पर ही बनती है। व्रत अटल निश्चय का प्रतीक है। यह एक प्रकार की प्रतिज्ञा है। इसको ग्रहण करते समय क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय का आवेश नहीं होना चाहिए। किसी के दबाव में न ग्रहण कर स्वेच्छापूर्वक ली हुई प्रतिज्ञा व्रत है। व्रत का विधान वहुधा आध्यात्मिक या मानसिक शक्ति की प्राप्ति के लिए चित्त अथवा आत्मा की शुद्धि के लिए संकल्प शक्ति की दृढ़ता के लिए ईश्वर

की भक्ति और श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए अपने विचारों को उच्च एवं परिष्कृत करने के लिए तथा स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है। व्रत का भंग होना अहितकारी है, जैसा कि कहा भी है "गुरु अर्थात् पञ्चपरमेष्ठी गुरु या परम्परा दीक्षित गुरु की साक्षी से लिए हुए व्रत या प्रतिज्ञा को प्राणनाश होने तक भी नहीं तोड़ना चाहिए क्योंकि प्राणनाश केवल मरण के समय ही दुःखकर है परन्तु व्रत का नाश भव भव में दुःखदायी है।[4] व्रत को धारण करना प्रतिज्ञाबद्ध होना है।

प्रतिज्ञा का नाम ही प्रतिमा है।[5] जब भोगों के प्रति अरुचि जागृत हो जाये और नियम लेने के लिए दृढ़ता आ जाये तभी प्रतिज्ञा[6] विशेष ले लेने पर क्रमवार उन्नति आरम्भ हो जाती है। श्रावक की उन्नत्ति के लिये श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्परा में एकादश सीढ़ियॉ/प्रतिमाएँ मानी गयी हैं। उनको आध ार मानकर श्रावकधर्म का वर्णन अनेक श्रावकाचारों में पाया जाता है। वर्णन की यह प्रक्रिया सर्वाधिक प्राचीन है क्योंकि धवल और जयधवल टीका में आचार्य श्री वीरसेन ने उपासकाध्ययन नामक अंग का स्वरूप इस प्रकार दिया है– उपासयज्झयणम णाय अंगं एक्कारस लक्ख सत्तरि सहस्सपदेहिं दंसणवद ----- इदि एक्कारसवि उवासगाणं लक्खणं तेसिं च वदारीवणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि धवल पृ. 107 (उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण वय सामाइयपोसहोवाससचित्तरायिभत्तबंभारंभपरिग्गहाणुमणुद्दिट्ठणामाणमेकारसण्हमुवासयाणं धम्मामेक्कारसविहं वण्णेदि जयधवल गा. 9 पृ. 130)

यहाँ उन्हीं का आश्रय लेकर प्रतिपादन किया जा रहा है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम ग्यारह प्रतिमाओं के धारक को देशविरत गुणस्थान वाला कहा है।[7] स्वामी कार्तिकेय ने ग्यारह प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का व्याख्यान किया है। उन्होंने सम्यक्त्व की महिमा बताने के पश्चात् ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर बारह व्रतों का स्वरूप निरूपण किया है।[8] इनके बाद आचार्य वसुनन्दि ने स्वामी कार्तिकेय का ही अनुसरण किया किन्तु इतना अवश्य किया है कि प्रारम्भ में सात व्यसनों और उनके दुष्फलों का विस्तार से वर्णन कर मध्य में बारह व्रत और ग्यारह

प्रतिमाओं का तथा अन्त में विनय, वैय्यावृत्त पूजा प्रतिष्ठा और दान का वर्णन विस्तार से किया है। आचार्य अमितगति भी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं किन्तु वह समन्तभद्राचार्य के समान व्रतों के वर्णन के पश्चात् करते हैं।

दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रतिमाओं की संख्या ग्यारह[9] ही है किन्तु नाम और क्रम में कुछ भेद है। दिगम्बर परम्परा में– (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) प्रोषध, (5) सचित्तत्याग, (6) रात्रिभुक्तित्याग, (7) ब्रह्मचर्य, (8) आरम्भत्याग, (9) परिग्रहत्याग, (10) अनुमतित्याग, (11) उद्दिष्टत्याग

पण्डित आशाधर इन्हीं के नाम से श्रावकों के भेद प्रतिपादन करते हैं, उन्होंने कहा है– क्रम से पूर्व-पूर्व गुणों में प्रौढ़ता के साथ, सम्यग्दर्शन सहित आठ मूलगुण निरतिचार अणुव्रतादि, सामायिक, प्रोषधोपवास तथा सचित्त से, दिवामैथुन से, स्त्री से, आरम्भ से, परिग्रह से, अनुमत से, और उद्दिष्ट भोजन से विरति को प्राप्त ग्यारह श्रावक होते हैं।[10] ये दार्शनिक आदि ग्यारह प्रकार के श्रावक तीन भेद रूप से भी वर्णित किये हैं–दार्शनिक, व्रतिक, सामयिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, दिवामैथुनविरत ये छह गृहस्थ कहलाते हैं तथा श्रावकों में जघन्य होते हैं। अब्रह्मविरत, आरम्भविरत और परिग्रहविरत ये तीन वर्णी या ब्रह्मचारी कहलाते हैं और श्रावकों में मध्यम होते हैं। अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये दो भिक्षुक कहे जाते हैं और श्रावकों में उत्तम होते हैं। (सागारधर्मामृत 12/2-3 श्लोक)।

सोमदेव ने भी आदि की छह प्रतिमा वालों को गृहस्थ आगे की तीन प्रतिमा वालों को ब्रह्मचारी और अन्तिम दो (अनुमतिविरत, उद्दिष्ट विरत वाले) को भिक्षुक कहा है। चारित्रसार में प्रथम छह को जघन्य उनसे आगे के तीन को मध्यम और अन्तिम दो प्रतिमाओं के धारक को उत्तम श्रावक कहा है। (पृ. 98)

श्वेताम्बर परम्परा में समवायांग में 11 प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य समन्तभद्र, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दी पं. आशाधर जी ने विशेष वर्णन किया है, किन्तु उमास्वामी, पूज्यपाद, अकलंकदेव,

जिनसेन, पद्मनन्दी, अमृतचन्द्र आदि ने श्रावक के व्रतों का चिन्तन किया है किन्तु प्रतिमाओं के सम्बन्ध में उल्लेख भी नहीं किया है।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक द्रव्य और भाव रूप से ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना हुआ निरन्तर महाव्रतों के पालन की लालसा करता है। निश्चित ही वह प्रशंसनीय है—

रागादिक्षयतारतम्यविकच्छुद्धात्मसंवित्सुख—
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसबधाद्यंहोहोव्यपोहात्मसु।
सद्दृग्दर्शनकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश—
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम्।। 46।। सागारधर्मामृत

देशविरत के दार्शनिक आदि ग्यारह स्थान अन्तरंग में राग आदि के क्षय से प्रकट हुई शुद्ध आत्मानुभूति रूप सुख या उससे उत्पन्न हुए सुख के स्वाद को लिए हुए हैं और बाह्य में त्रस हिंसा आदि पापों से विधिपूर्वक विरति को लिए हैं।

दिगम्बर परम्परा में मान्य इन प्रतिमाओं का रूप ही श्वेताम्बर साहित्य में कुछ नाम और क्रम परिवर्तन के साथ मिलता है, जो इस प्रकार है— (1) दर्शन, (2) व्रत, (3) सामायिक, (4) पौषध, (5) नियम, (6) ब्रह्मचर्य, (7) सचित्तत्याग, (8) आरम्भत्याग, (9) प्रेष्यपरित्याग अथवा परिग्रहपरित्याग, (10) उद्दिष्टभक्तत्याग, (11) श्रमणभूत

प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में समान हैं। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर परम्परा में पांचवाँ है, तो श्वेताम्बर परम्परा में सातवॉ है। दिगम्बर परम्परा में रात्रिभुक्तित्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा गिना है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में पांचवी नियम में उसका समावेश है। ब्रह्मचर्य का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है तो दिगम्बर परम्परा में सातवाँ है। दिगम्बर परम्परा में अनुमतित्याग दसवीं प्रतिमा है। श्वेताम्बरों में उद्दिष्टत्याग में इसका समावेश किया है। श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम श्रमणभूत है क्योंकि श्रावक का आचार श्रमण सदृश माना है। दिगम्बर परम्परा में

ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टत्याग है। यह भी श्रावक है। श्रावक की उत्कृष्ट अवस्था है किन्तु श्रमण सदृश आचार नहीं हो सकता क्योंकि ग्यारहवीं प्रतिमा वाले के भी वस्त्र का परिग्रह रहता है।

प्रत्येक प्रतिमा के भावरूप (आध्यात्मरूप) आर द्रव्यरूप (बाह्यरूप) ये दो रूप होते हैं। बाह्यरूप दृश्य है और अध्यात्मरूप अदृश्य है। वह स्वसंकोच मात्र हे। पण्डित श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री ने इस अध्यात्मरूप को समझाते हुए लिखा है – "जब चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का क्षय होता है। अर्थात् उनके उदय का अभाव होता है और देशघातिस्पर्धकों का उदय रहता है, तब राग द्वेष के घटने से निर्मल चिद्रूप की अनुभूति होती है, वह अनुभूति सुखरूप है या उस अनुभूति से उत्पन्न हुए सुख का स्वाद उन प्रतिमाओं का अनन्त रूप है। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर रागादि घटते जाते हैं त्यों त्यों आगे की प्रतिमाओं में निर्मल चिद्रूप की अनुभूति में वृद्धि होती जाती है और उत्तरोत्तर आत्मिक सुख बढ़ता जाता है। इसके साथ ही श्रावक ही बाह्य प्रवृत्ति में परिवर्तन आये बिना नहीं रहता। वह प्रतिमा के अनुसार स्थूल हिंसा आदि पापों से निवृत्त होता जाता है। ऐसा श्रावक सतत भावना करता है कि मैं गृहस्थाश्रम को छोड़कर कब मुनिपद धारण करूँ।

पण्डित जी ने प्रतिमाधारी श्रावक को शुद्ध आत्मानुभूति होने की जो चर्चा की है, वह सैद्धान्तिक ग्रन्थों से भिन्नता रखती है क्योंकि जब तक भी अन्तरंगपरिग्रह और बहिरंगपरिग्रह से निवृत्ति नहीं होगी तब तक शुद्धानुभूति असंभव है।[11]

दिगम्बर परम्परा में प्रतिमाओं के काल का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त की आयु वाला गृहस्थ गुरु की साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण के साथ जितनी प्रतिमाएं ग्रहण करता है उनका विधिवत् पालन करते हुए पूरा जीवन व्यतीत कर सकता है अथवा मुनिपद ग्रहण कर महाव्रती बनकर आत्म साधना कर सकता है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य में तो प्रथम प्रतिमा एक मास, द्वितीय प्रतिमा दो मास, तीसरी तीन मास, चौथी चार मास, पांचवीं का पांच मास, छठी का छः मास, सातवीं का सात मास, आठवीं का आठ मास, नवीं

का नौ मास, दसवीं का दस मास, और ग्यारहवीं का ग्यारह मास तक पालने का विधान है। प्रथम को एक माह पालन करने पर ही दूसरी प्रतिमा ग्रहण की जाती है इस प्रकार ग्यारहवीं तक का क्रम है और ग्यारह माह तक ग्यारहवीं प्रतिमा का पालन कर मुनिव्रत ग्रहण किया जाता है। अर्थात् कुल छयासठ माह प्रतिमाओं का पालन किया जाता है।

उक्त भिन्नता होने पर भी दोनों परम्पराओं में प्रतिमाओं का विशद विवेचन है। प्रकृत में प्रत्येक प्रतिमा का संक्षिप्त रूप में वर्णन प्रस्तुत है :–

दर्शनप्रतिमा – जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है संसार, शरीर और भोगों से विरक्त है पञ्च परमगुरुओं के चरणों की शरण को प्राप्त है और सत्यमार्ग को ग्रहण करने वाला या पक्ष वाला है वह दर्शन प्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक है।[12] इस प्रतिमा का धारक सम्यक्त्व सहित अष्टमूलगुणों का पालन करता है।

व्रतप्रतिमा – जो श्रावक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्यों से रहित होकर निरतिचार अर्थात् अतिचार रहित निर्दोष रूप से पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतों को धारण करता है, वह व्रती पुरुषों के मध्य में व्रत प्रतिमाधारी व्रती श्रावक माना गया है।[13] प्रथम प्रतिमा में तीन शल्यों का अभाव नहीं होता है और अणुव्रतों में कदाचित् अतिचार लगते हैं किन्तु दूसरी प्रतिमा में आते ही तीनों शल्यें छूट जाती हैं और पांच अणुव्रतों का निरतिचार पालन होने लगता है। तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का सातिचार पालन होता है। दर्शन और व्रत प्रतिमा में यही अन्तर है।

सामायिकप्रतिमा – जो चार बार तीन तीन आवर्त और चार प्रणति करके यथाजात बालक के समान निर्विकार बनकर खड्गासन या पद्मासन से बैठकर मन-वचन-काय शुद्ध करके तीनों सन्ध्याओं में देव-गुरु-शास्त्र की वन्दना और प्रतिक्रमण आदि करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।[14]

व्रत प्रतिमा में सामायिक शील रूप कहा गया है। शील रूप अवस्था में अतिचार लगता रहता है। समय की निश्चितता नहीं होती और तीन बार का नियम भी नहीं है किन्तु यहाँ सामायिक व्रत अंगीकार करने पर प्रतिमा रूप

होता है जैसा कि पण्डित आशाधर जी कहते हैं– निरतिचार सम्यग्दर्शन तथा मूलगुण और उत्तरगुणों के समूह के अभ्यास से जिसकी बुद्धि अर्थात् ज्ञान विशुद्ध हो गया है तथा जो परिग्रह और उपसर्ग के आने पर भी तीनों सन्ध्याओं में साम्यभाव धारण करता है, वह श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला होता है।[15] आचार्य वसुनन्दि जिनशास्त्र, जिनधर्म, जिनचैत्य, परमेष्ठी तथा जिनालयों की तीनों काल में जो वन्दना की जाती है उसे सामायिक कहते हैं।[16] सामायिक का उत्कृष्ट काल छः छड़ी है और जघन्यकाल दो घड़ी का है। सामायिक समताभाव जागृत करने में पूर्ण सहायक होती है।

प्रोषध प्रतिमा – प्रत्येक मास की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर सावधान हो प्रोषधोपवास करने वाला प्रोषध नियम विधायी श्रावक कहलाता है।[17] प्रोषध व्रत का धारक सोलह प्रहर का भी उपवास करता है। यह उत्कृष्ट उपवास होता है। मध्यम श्रावक द्वारा बारह प्रहर और जघन्य श्रावक द्वारा आठ प्रहर का भी उपवास किया जाता है। उस समय आचाम्ल निर्विकृति आदि से भी प्रोषध की साधना की जाती है। इसमें कुछ शिथिलता भी होती है किन्तु प्रतिमा में किसी भी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं होती है। प्रतिमा निरतिचार होती है। यदि शरीर स्वस्थ है तो सोलह प्रहर का ही उपवास करना चाहिए। अस्वस्थता में बारह और आठ प्रहर का उपवास किया जा सकता है। प्रोषधोपवास के दिन गृहस्थ श्रावकश्रमण के समान आरम्भ आदि का परित्याग कर धर्मध्यान करता है।

सचित्तत्यागप्रतिमा – जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे कन्दमूल, फल, शाक, शाखा, बेर, कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।[18] इस प्रतिमाधारी की प्रशंसा करते हुए प. आशाधर जी ने कहा है–

अहोजिनोक्तिनिर्णीतरहो अक्षजितिस्सताम्।
नालक्ष्यजन्त्वपि हरित् प्यान्येतेऽसुक्षयेऽपि यत्।। सा. धर्म. 7/10

सचित्तत्याग के लिये सावधान सज्जन पुरुषों का जिन भगवान् के वचनों पर निश्चय आश्चर्यकारी है, इनका इन्द्रियजय विस्मय पैदा करता है क्योंकि

जिस वनस्पति के जन्तु प्रत्यक्ष से नहीं देखे जाते हैं केवल आगम से ही जाने जाते हैं, वे प्राण जाने पर भी उसे नहीं खाते हैं।

शीलों के वर्णन प्रसंग में भोगोपभोगपरिमाण नामक शील के अतिचार रूप से जो सचित्तभोजन व्रत प्रतिमाधारी के लिये त्याज्य कहा था खाये जाने वाले सचित्त द्रव्य में रहने वाले जीवों के मरण से पञ्चम प्रतिमा धारक श्रावक उस सचित्त भोजन को व्रत रूप से त्याग देता है।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार इस प्रतिमा वाला वनस्पति का त्यागी होता है किन्तु पण्डित आशाधर जी उसे अप्रासुक का त्यागी कहते हैं यह उत्तरवर्ती विकास है।

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा – जो रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चार प्रकार के आहारों को प्राणियों पर अनुकम्पाशील होकर नहीं खाता है वह रात्रिभुक्तिविरत श्रावक है।[19] पण्डित आशाधर इसे रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा नाम देते हैं उन्होंने कहा है ''जो पूर्वाक्त पांच प्रतिमाओं के आचार में पूरी तरह से परिपक्व होकर स्त्रियों से वैराग्य के निमित्तों में एकाग्रमन होता हुआ मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता वह रात्रिभक्तव्रत होता है।[20] रात्रि में भी ऋतुकाल में ही सेवन करता है। पर्व के दिनों का त्यागी होता है किन्तु प्रतिमाधारी कृत, कारित, अनुमोदना के साथ मन वचन काय से रात्रि भोजन का त्यागी होने का अर्थ नवकोटि से नियम का पालक होता है।

जिन आचार्यो[21] ने दिवामैथुनत्याग या रात्रिभक्तव्रत नाम दिया है और दिन में स्त्री का त्याग बतलाया है, उनके पक्ष में भी यही है कि इससे पांच प्रतिमाओं के पालन करते समय भी दिन में स्त्री भोग का त्याग होता है किन्तु इस प्रतिमा का पालक नवकोटि से पालन करता है। हास विनोद का भी दिन में त्याग करता है।

ब्रह्मचर्यप्रतिमा – जो पुरुष स्त्री के कामाङ्ग को यह मल का बीज है, मल की योनि है, निरन्तर मल झरता रहता है, दुर्गन्धयुक्त है और वीभत्स है। इस

प्रकार देखता हुआ उससे विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारी श्रावक है।[22] इस प्रतिमा का धारी सभी स्त्रियों का त्यागी होता है। सभी से तात्पर्य देवांगना, तिर्यञ्चिनी और मनुष्य स्त्रियों से है साथ में इनकी प्रतिकृतियों से भी है। इनका सेवन मन, वचन, काय से नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचर्यप्रतिमा के धारक की बहुत प्रशंसा की गयी है निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों का नाम लेने मात्र से ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं, देवता भी सेवकों की तरह व्यवहार करते हैं तथा विद्या ओर मंत्र सिद्ध हो जाते हैं। निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने से आत्मा की अनन्त शक्ति बढ़ जाती है अतः परद्रव्य से हटकर आत्मरमण करने के लिये इस व्रत का नवकोटि पालन करना चाहिए।

आरम्भत्यागप्रतिमा – आरम्भ शब्द एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है हिंसात्मक क्रिया। श्रमणोपासक संकल्प पूर्वक त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता किन्तु कृषि वाणिज्य अन्य व्यापार में जो षट्काय के जीवों की हिंसा संभव है/होती ही है अतः उसका त्यागी होता है।[23] यहॉ इतना विशेष है कि वह स्वयं आरम्भ का त्यागी होता है किन्तु सेवक आदि से आरम्भ कराने का त्याग नहीं करता उसका आरम्भ का त्याग एक करण तीन योग से होता है। आचार्य सकलकीर्ति ने आठवीं प्रतिमाधारी को रथादि की सवारी के त्याग का भी विधान किया है।[24]

परिग्रहत्यागप्रतिमा – जो श्रावक क्षेत्र-वास्तु, धन-धान्य हिरण्य-स्वर्ण दासी-दास और कुप्यभाण्ड इन दस बाह्य परिग्रहों में ममता छोड़ निर्ममत्वभाव से आत्मस्थ हो सन्तोष धारण करता है वह बाह्य परिग्रह से विरक्त नवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है।

अनुमतित्यागप्रतिमा – जिस श्रावक की किसी प्रकार के आरम्भ अथवा परिग्रह में या ऐहिक कार्यो में अनुमोदना नहीं रहती उसे समबुद्धि अनुमति त्यागी श्रावक कहा है।[25]

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा – जो श्रावक अपने घर से मुनिवन को जाकर गुरु के समीप में व्रतों को ग्रहण करके भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करता है। चेल खण्ड

धारण करता है। अपने निमित्त से बने हुए आहार को ग्रहण नहीं करता है, वह उद्दिष्ट आहार त्यागी श्रावक कहलाता है।

उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवेचन गृहस्थ धर्म की विशिष्टता के कारण किया गया है।

1. मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञानसुधां श्रावक. पिपासुः स्यात्। सागारधर्मामृत 1/15

2. श्रावकधर्मप्रदीपिका गा 2

3. श्रद्धालुतांश्रातिशृणोति शासन दीने वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृतत्वपुण्यानि करोति संयमं त श्रावक प्राहुरमी विचक्षणाः।।

4 प्राणान्तेऽपि न भंक्त्व्यं गुरुसाक्षि श्रितं व्रतम्।
प्राणान्तसतत्क्षणे दुःख व्रतभङ्गे भवे भवे।। सागरधर्मामृत 7/52

5. प्रतिमा प्रतिपत्ति प्रतिज्ञेतियावत् स्थानांग वृत्ति पृष्ठ 61
संसार शरीर भोगो से विरक्ति पूर्वक विषय कषायो की निवृत्ति और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति का नाम प्रतिमा है।

6. संयम अंश जग्यौ जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयौ प्रतिमा ताकौ नाम।। बनारसीदास

7. दंसण वय सामाइय पोसहसचित्त राइभत्ती य।
बम्भारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेशाविरदे दे।। चारित्रपाहुड़ गा. 21

8. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में (धर्मानुप्रेक्षा के अन्तर्गत)

9. श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सहसंतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः।।

10. सागारधर्मामृत 17/1

11. समयसार अध्यात्मकलश

12. सम्यग्दर्शनशुद्धा ससारशरीरभोगनिर्विण्णः।
पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार

13. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 138

14 वही 139

15. सुदृड् मूलोत्तरगुण ग्रामाभ्यासविशुद्धधीः।
भजंस्त्रिसध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत्।। 16/1

16. जिनणवयणधम्मचेइयपरमेट्ठिजिणालयाण णिच्चं पि।

ज वदण तियाल कीरइ सामायिय त खु।।

17 रत्नकरण्डश्रावकाचार 140

18. मूलफल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽय सचित्तविरतो दयामूर्ति।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार 141

19. अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरत. सत्वेष्वनुकम्पमानमना।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार 142

20. सागारधर्मामृत 7/12

21 वसुनन्दि, पं. आशाधर आदि

22. रत्नकरण्ड श्रावकाचार 143

23 वही 144

24 धर्मप्रश्नोत्तर श्रावकाचार श्लोक 107

25. रत्नकरण्डश्रावकाचार 145

—रीडर-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत (बागपत)

आपदां कथितः पन्थाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्।।

—'आपदाओं का—दुःखों का—मार्ग है इन्द्रियों का असंयम; और इन्द्रियों को जीतना—उन्हें अपने वश में रखना—यह सम्पदाओं का—सुखों का मार्ग है।

जो मार्ग इष्ट हो उसी पर चलो।'

‘‘गागरोन की प्राचीन, अप्रकाशित जैन प्रतिमाएँ’’

—ललित शर्मा

राजस्थान के दक्षिण-पूर्व में स्थित झालावाड़ जिला अपने प्राचीन भू-भाग में अनेक धर्मो की संस्कृति के अवशेषो के साथ जैन धर्म की संस्कृति के भी कई आयामों को समाहित किये हुए है। मुख्यालय झालावाड़ से उत्तर की ओर चार कि.मी. दूर आइ-और काली सिन्ध नदी के तट पर 9वीं सदी का एक प्राचीन गागरोन दुर्ग है। यह दुर्ग प्राचीन दुर्गों की ‘जल दुर्ग’ श्रेणी का उत्तरी भारत में एक मात्र दुर्ग है। दिल्ली-मुम्बई बड़ी रेलवे लाईन के मध्य-कोटा-जक्शंन से इस स्थल की दूरी मात्र 85 कि. मी. है तथा दक्षिण में उज्जैन-इन्दौर मार्ग पर स्थित है। कोटा से बस मार्ग द्वारा झालावाड़ होकर इस दुर्ग तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। वायु मार्ग से इस स्थल पर पहुंचने के लिये यहां का निकटतम हवाई अड्डा राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर अथवा मध्य-प्रदेश की औद्योगिक नगरी ‘इन्दौर’ है। दोनों स्थानो से बस मार्ग द्वारा झालावाड़ आसानी से पहुंचा जा सकता है।

कुछ समय पूर्व मैं पुरातात्विक शोध के दौरान गागरोन-दुर्ग में अपने मित्र श्री निखिलेश सेठी (फर्म-विनोदराम-बालचन्द, विनोद भवन, झालरापाटन) के साथ गया। शोध के दौरान मुझे वहाँ के खण्डहरो और दीवारों में कुछ ऐसी सुन्दर व कलात्मक जैन प्रतिमाएँ मिली जिनकी ओर आज तक किसी पुरातत्वविद, शोधार्थी का ध्यान ही नही गया था। इसलिये ये प्रतिमाऍ आज तक अप्रकाशित रहीं जो समय, धूप, पानी, हवा की मार सहकर आज भी प्राचीन संस्कृति की शिल्प कला की अनुपम थाती हैं। इन दुर्लभ, प्राचीन और अप्रकाशित प्रतिमाओ का परिचय इस प्रकार है। यथा—

गागरोन दुर्ग में प्राचीन भैरवपोल के उत्तर की ओर दुर्ग की लम्बी दीवार की एक बुर्जी में बरसों से चुनी हुई महावीर स्वामी की एक सुन्दर प्रतिमा शोध अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी है। यह प्रतिमा डेढ़ फीट लम्बे व एक फीट चौड़े भूरे व पीतवर्णी पाषाण खण्ड पर बनी हुई है। पद्मासन महावीर

स्वामी की इस प्रतिमा की कमनीय काया का अंकन इसकी प्राचीनता को स्वतः ही प्रमाणित करता है, जो पाषाण में प्राण का जीवन्त प्रमाण है। महावीर की यह प्रतिमा ध्यानावस्था में है जिसमे पुनर्जन्म व मृत्यु से मुक्ति के भाव परिलक्षित होते है। प्रतिमा की ग्रीवा में सलवटे व कन्धे को छूते दोनों लम्बकर्ण कलाकार की दार्शनिक चेतना के प्रमाण है। प्रतिमा के शीश जूट पर घुंघराले केशों का अंकन बड़ा ही सुन्दर बना हुआ है वही दोनो हाथ पद्मासन पादप पर ध्यानावस्था में रखे हुए है।

महावीर स्वामी की इस अनुपमेय प्रतिमा के श्रीमुख के पृष्ठ में सुन्दर व द्विआयामी गोलाकार आभामण्डल दर्शाया गया है जिसके शीर्ष पर एक लघु पद्मासन जिन प्रतिमा बनी हुई है—प्रतिमा को देखते ही मन में भक्ति और वैराग्य के भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रतिमा के नीचे दांयी तथा बांयी ओर दो लघु बैठी हुई सिहांकृतियाँ लांछन रूप में एक-दूसरे की विपरीत मुखावलि में बनी हुई हैं। महावीर स्वामी की इस प्रतिमा के दोनो पद्मासन पैरों के नीचे दो पुरुषाकृतियॉ बनी है जो महावीर के आसान का भार उठाने का उपक्रम किये हुए है। प्रतिमा के दोनों घुटनो के पृष्ठ में दो सुन्दर लघु खड़गासन मुद्रा में सुन्दर जिन प्रतिमाएँ है वहीं प्रतिमा के दोनो कन्धों के ऊपर दो लघु पद्मासन जिन मूर्तियाँ तपस्या तल्लीन मुद्रा में उकरी हुई हैं। सारतः महावीर स्वामी की इस सुन्दर और प्राचीन प्रतिमा में उनका मुख और ध्यानावस्था के हाथ खण्डित होने के बावजूद भी प्रतिमा पर्यटकों, शोधार्थियों व पुरातत्वविदो के लिये अध्ययन व अवलोकन की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

इस प्रतिमा के निकट एक प्राचीन देवालय की खण्डित उतरांग पट्टिका हैं जिसमें उनके लघु पद्मासन स्वरूप में जैन मूर्तियाँ कलात्मकता से बनी हुई हैं। डेढ़ मीटर लम्बे व आधे मीटर चौड़े लाल पाषाण खण्ड में मध्य में एक सुन्दर लघु पद्मासन जिन मूर्ति है जिसका मुख व आभामण्डल विकृत होने के बावजूद भी शरीर सौष्ठव काफी सुन्दर है। इसी क्रम में दुर्ग के दरीखाने के मध्य चौक में दो फीट लम्बे व एक फीट चौड़े काले-भूरे पाषाण खण्ड पर एक सुन्दर दिगम्बर जैन प्रतिमा खड्गासन मुद्रा में तपस्या रत है। इस प्रतिमा की मुखाकृति पूर्णतया भग्न होने पर भी इसका कला सौष्ठव अति सुन्दर है। इस प्रतिमा को कलाकार ने बड़ी ही तन्मयता से उकेरा है इसकी कला ही इसकी

प्राचीनता का प्रमाण है। भग्न शीश व आभामण्डल होने के बावजूद भी शेष कटिप्रदेश, धड़ व पैर अत्यन्त सुन्दर हैं। प्रतिमा के दोनों हाथ भी खण्डित हैं। इस प्रतिमा के पैरों के दोनों ओर दो खड्गासन लघु दिगम्बर जिन प्रतिमाएँ हैं जिनके दोनों ओर ऊपर दो-दो पद्मासन लघु मूर्तियाँ तपस्यारत भावों में उकेरी हुई है। मुख्य प्रतिमा के भग्नमुख व आभा मण्डल के दांयी व बांयी ओर पुरुष स्त्री युग्म के आकाश गमन करते गन्धर्व दम्पति दर्शित है। संभवतः वे प्रतिमा का अभिषेक कर रहे हैं। मूर्ति के पैरों के नीचे लांछन, वाहन विन्यास न होने से दिगम्बर होने से यह निश्चित ही दिगम्बर जैन धर्म की उत्कृष्ट कला शिल्प निधि है।

गागरोन दुर्ग से 1953 में अवाप्त और राजकीय संग्रहालय में प्रदर्शित दसवीं सदी की एक सुन्दर प्रतिमा जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव की है, 25 सेंटीमीटर लम्बे व 22 सेंटीमीटर ऊंचे सिलेटिया पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण भगवान ऋषभदेव की यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा में है। शिल्प और तपस्या भाव से सुन्दर बन पड़ी इस प्रतिमा के ध्यानावस्था के दोनों हाथों की अंगुलियाँ व हथेली भग्न है। प्रतिमा के पैरों के नीचे वृषभ की आकृति बनी हुई है जिसके दांयी तथा बांयी ओर दो विपरीत मुखाकृतियों वाली सिंहाकृतियाँ बनी हुई है। प्रतिमा का आसन उठाने की मुद्रा में नीचे की ओर दो पुरुषाकृतियाँ भारसायक रूप में उकरी हुई है। प्रतिमाँ के आसपास दो-दो खण्डित लघु प्रतिमाएँ भी है।

सारतः उक्त जैन प्रतिमाओं की अवाप्ति से प्रमाणित होता है कि संभवतः 10वीं सदी में गागरोन में वैष्णव मत के साथ-साथ जैनधर्म का भी बोल-बाला रहा होगा और वहाँ कदाचित् कोई प्राचीन जैन मन्दिर अवश्य रहा होगा जो किसी कारण वश भग्न होने से उसके अवशेष रूप की उक्त प्रतिमाएँ व उतरांग पट्टियां इस दुर्ग में बाद में चुन दी गई हो। आज भी ये प्रतिमाएँ शोध और अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी साबित हो सकती हैं। समय के झंझावातों से जूझकर भी इन्होने अपना शिल्प सौन्दर्य जिस प्रकार बनाये रखा वह आज भी अनुपमेय है।

—जैकी स्टूडियो
11-मंगलपुरा स्ट्रीट, झालावाड़-326001 (राज.)

भगवान महावीर और परिग्रह-परिमाण व्रत

—डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन

जैन धर्मानुसार आत्मा पुरुषार्थ करे तो परमात्मा बन जाती है। एक बार परमात्म-पद प्राप्त हो जाने के बाद ससार में पुनरागमन नहीं होता। भगवान महावीर का निर्वाण के उपरान्त संसार में पुनः आगमन नहीं हो सकता; लेकिन जिस जीव का आगमन संसार में हुआ है उसका स्व पुरुषार्थ के बल पर परमात्मा बन भगवान महावीर जैसा बन सकता है। भगवान महावीर की साधना किसी एक जन्म की नहीं अपितु अनेक जन्मों की साधना का परिणाम थी जिसका लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त होना अश्वयंभावी था।

तीर्थंकर का जन्म मात्र स्व-उपकार के लिए ही नहीं अपितु पर-उपकार के लिए भी होता है। तीर्थंकर के जन्म के पूर्व की परिस्थितियाँ भी उनकी आवश्यकता को प्रतिपादित करती हैं। 'वीरोदय महाकाव्य' के अनुसार—

"मनोऽहिवद्वक्रिमकल्पहेतुर्वाणी कृपाणीव च मर्म भेत्तुम्।
कायोऽप्यकायो जगते जनस्य न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः।।
इति दुरितान्धकारके समये नक्षत्रौघसङ्कुलेऽघमये।
अजिन जनाऽऽह्लादनाय तेन वीराह्वयवर सुधास्पदेन।।" [1]

अर्थात् उस समय के लोगों का मन सर्प के तुल्य कुटिल हो रहा था, उनकी वाणी कृपाणी (छुरी) के समान दूसरों के मर्म को भेदने वाली थी और काय भी पाप का आय (आगम-द्वार) बन रहा था। उस समय कोई भी जन किसी के वश में नहीं था; अर्थात् लोगों के मन-वचन-काय की क्रिया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरङ्कुश हो रहे थे। इस प्रकार पापान्धकार से व्याप्त, दुष्कृत-मय, अक्षत्रिय जनों के समूह से संकुल समय में, अथवा नक्षत्रों के समुदाय से व्याप्त समय में उस 'वीर' नामक महान चन्द्र ने जनों के कल्याण के लिए जन्म लिया।

'वीर' ने जन्म लेकर 'वर्द्धमान' नाम सार्थक करते हुए महावीरत्व की साधना पूर्ण की। वे पूर्ण-ज्ञान होते ही केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बने। उनके सद्विचारों का सम्प्रेषण दिव्यध्वनि के माध्यम से हुआ। उन्होंने आचार सिखाने से पूर्व अपने विचारों से मानव हृदयों, पशु-पक्षियों तक को अभिसिंचित किया। उनकी धारणा थी कि विचार विहीन आचार जड़ता का प्रतीक है। नीति कहती है–

चारित्रं नरवृक्षस्य सुगंधि कुसुमं शुभम्।
आकर्षण तथैवात्र लोकानां रंजनं महत्।।

अर्थात् चारित्र मनुष्य रूपी वृक्ष का सुन्दर, सुगन्धित पुष्प है। सुन्दर, सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

इस चारित्र की सुगन्ध तभी प्राप्त हो सकती है जबकि यह व्यक्ति धर्म से जुड़े, धर्मात्मा बने। धर्मपालन मन की शुद्धि, विचारों की शुद्धि एवं कार्यों की शुद्धि से ही संभव है। मन की शुद्धि के विषय में कहा गया है कि–

मनः शुद्धयैव शुद्धिः स्याद् देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्वयतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्।।

अर्थात् मन की शुद्धि से आत्मा की शुद्धि होती है। मन की शुद्धि के बिना केवल शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है। सत्चारित्र की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। 'ज्ञानार्णव' में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि–

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्त निर्जय।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः।।
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यान साधने।
स्वमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतैः।। [2]

अर्थात् हे मित्र! जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया, चित्त को जीतने का अभ्यास नहीं किया, वैराग्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मा को कष्टों से भाया नहीं और वृथा ही मोक्ष हेतु ध्यान में प्रवृत्त हो गये; उन्होंने अपने को ठगा और

इहलोक, परलोक; दोनों से च्युत हुए। कहने का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियजयी होने पर ही चारित्रिक श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

भगवान महावीर से पूर्व यह धारणा बन गई थी कि धर्मसाधन तो वृद्धावस्था में करणीय है; किन्तु भगवान महावीर ने कहा कि धर्म के लिए कोई उम्र नहीं होती। वह तो बचपन में भी किया जा सकता है, घोर युवावस्था में भी। उन्होंने तीस वर्ष की युवावस्था में दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर अपनी साधना को एक नया आयाम ही नहीं दिया अपितु आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया; जिसका चरम और परम लक्ष्य था—स्वयं को जीतो। जो स्वयं को जीतता है वास्तव में वही जिन है। भगवान महावीर ने कहा कि जीतना है तो स्वयं को जीतो, मारना है तो स्वयं के विकारों को मारो। भेद देखने वाला संसारी है और जो भेद में भी अभेद (आत्मा) को देख लेता है वह मोक्षार्थी है। सब जीवों से ममता तोड़ो और समता जोड़ो। शस्त्रप्रयोग मत करो और जिनवचन रूप शास्त्रों के विरुद्ध आचरण मत करो। भगवान महावीर ने काम जीता, कषायें जीतीं, इन्द्रियों को जीता ओर विषमता के शमन हेतु समता को अपनाया और मोक्ष पाया। हमारा यही लक्ष्य होना चाहिए।

गांधी जी ने इस युग में भगवान महावीर के दर्शन को आत्मसात् किया था। उन्होंने लिखा कि—"जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से अनुचित लाभ नहीं उठाता, सदापवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वह आदमी धार्मिक है वही सुखी है और वही पैसे वाला है। मानव जाति की सेवा उसी से बन सकती है। "आज आवश्यकता है भगवान महावीर की, एक प्रेरक आदर्श की; जो बता सके कि चारित्र का मार्ग ही वरेण्य है।" मेरी यह पंक्तियां इन्हीं भावनाओं की उद्‌भावक हैं—

हे वीर प्रभु इस धरा पर आज तुम फिर से पधारो।
हे वीर प्रभु सब काज कर आज मम जीवन निहारो।।
हो गया मानव जो दानव दनुजता उसकी मिटाओ।
सरलता से, नेह-धन से सहजता उसकी बचाओ।।
हे वीर तुम आनन्द की मूर्ति निर्वेर हो।

गुणों के मीर हो शान्ति से अमीर हो।।
एक से नेक हो अनेकान्त से अनेक हो।
शम, दम, दया, त्याग के स्वयं सन्देश हो।।

भगवान महावीर ने कहा कि आशा-तृष्णा के ताप से तप्त मन हितकर नहीं। अर्थ अनर्थ न कर दे इसलिए अर्थ की अनर्थता का चिन्तन करो– "अर्थमनर्थं भावय नित्यं।" गृहस्थ अर्थ का उपार्जन करे किन्तु वह न्याय की तुला पर खरा उतरना चाहिए। अन्याय, अनीति से कमाया गया धन विसंवाद कराता है, संघर्ष के लिए प्रेरित करता है अतः वह मल की तरह त्याज्य है। गृहस्थ के लिए धन साधन बने, साध्य नहीं और साधु के लिए धन सर्वथा त्याज्य है। यहाँ तक कि वह उसके प्रति ममत्व भी न रखे तभी समत्व की साधना पूरी होगी। इसीलिए भगवान की वाणी अमृत रूप बनी, भगवान का चारित्र सम्यक् चारित्र बना। उनके चारित्र से संसार जान सका कि जोड़ने में सुख नहीं; सुख तो त्यागने में है। हमारी तो भावना है कि हम भगवान महावीर के जीवनादर्शो को अपनायें ताकि शान्ति मिले, समता हो और संघर्षो से छुटकारा मिले। वीतरागता का उनका आदर्श प्रयोग की कसौटी पर कसा हुआ खरा है जिसके प्राप्त होने पर न संसार बुरा है, न व्यक्ति बल्कि; स्वयं अपनी आत्मा प्रिय लगने लगती है और लक्ष्य बन जाता है आत्मा को जीतो, आत्मा को पाओ।

परिग्रह – 'वृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार 'परिग्रह' शब्द का अर्थ लेना, ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, आवेष्टित करना, धारण करना, धन आदि का संचय, किसी दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, किसी स्त्री को भार्या रूप में ग्रहण करना, पत्नी, स्त्री, पति, घर, परिवार, अनुचर, सेना का पिछला भाग, राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शपथ, कसम, मूल आधार, विष्णु, जायदाद, स्वीकृति, मंजूरी, दावा, स्वागत-सत्कार, आतिथ्य सत्कार करने वाला, आदर, सहायता, दमन, दंड, राज्य, सम्बन्ध, योग, संकलन, शाप बताया गया है।[3] इसमें एक ओर जहाँ परिग्रह को संचय के अर्थ में लिया है वहीं शाप के अर्थ में भी रखा है जिससे परिग्रह की शोचनीय दशा प्रकट होती है। जैनाचार्यों की

धारणा में परिग्रह 'परितो गृह्यति आत्मानमिति परिग्रहः' अर्थात जो सब ओर से आत्मा को जकड़े; वह परिग्रह है।

आचार्य उमास्वामी के अनुसार 'मूर्च्छा परिग्रह है' – "मूर्च्छा परिग्रहः।"[4] इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि "गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप अभ्यन्तर उपधि का सरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।[5] आचार्य पूज्यपाद की ही दृष्टि में "ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः" अर्थात् यह वस्तु मेरी है; इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।[6] राजवार्तिक के अनुसार– "लोभकषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं।[7] "ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते" अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ; इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[8]

धवला पुस्तक के अनुसार– "परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः।[9] 'परिग्रह्यते इति परिग्रहः" अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है तथा "परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः" जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार यहाँ बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।[10]

समयसार आत्मख्याति के अनुसार 'इच्छा परिग्रहः' अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है।[11]

परिग्रह के भेद – परिग्रह के दो भेद हैं– 1. बाह्य, 2. अन्तरंग। बाह्य परिग्रह में भूमि, मकान, स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि अचेतन तथा नौकर-चाकर, पशु, स्त्री आदि सचेतन पदार्थ शामिल किये जाते हैं।[12] अन्तरङ्ग परिग्रह में मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेद भावनायें व्यक्ति के अन्तरंग परिग्रह हैं।[13]

परिग्रह पाप है – जैनागम में पॉच पाप माने गये हैं–हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इसके अनुसार परिग्रह भी पाप है। परिग्रह बनाम मूर्च्छा पॉचों प्रकार के पापों का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्द्धन एवं संरक्षण के प्रति सचेत है वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म में से बच नहीं सकता। 'सवार्थ सिद्धि' के अनुसार– 'सब दोष परिग्रह मूलक हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृत्त होता है। नरकादि में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।[14]

आ. गुणभद्र की दृष्टि में– "सज्जनों की भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी समुद्र को स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखा जाता है?"

शुद्धैधनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः।।[15]

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार परिग्रह में हिंसा होती है–

हिंसा पर्य्यात्वासिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।।[16]

अर्थात् हिंसा के पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा – जैनाचार्यो ने परिग्रह त्याग हेतु इसे अणुव्रत, प्रतिमा एवं महाव्रत के अन्तर्गत रखा है। अणुव्रत एवं प्रतिमा सद्गृहस्थ श्रावक एवं परिग्रह-त्याग-महाव्रत मुनि धारण करते हैं।

परिग्रह परिमाण – परिग्रह दुःख मूलक होता है। 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है कि–

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्।।[17]

अर्थात् परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। उसे नरकगति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।

दुःख रूप परिग्रह से बचने के लिए जैनाचार्यों ने परिग्रह को परिमाण (सीमित) करने का अणुव्रत के रूप में मान्यता दी है।

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार – 'धन्धान्यक्षेत्रादीनमिच्छावशात् कृत परिच्छेदो गृहीति पञ्चमणुव्रतम्''[18] अर्थात् गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिए उसके पाँचवां परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–

जो लोहं णिहणित्ता संतोस – रसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं।।
जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं।
उवयोगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स।।[19]

अर्थात् जो लोभ कषाय को कम करके, सन्तोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है उसके पॉचवां (परिग्रह परिमाण) अणुव्रत होता है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है कि–

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमित परिग्रहः स्यादिच्छा परिमाणनामापि।।[20]

अर्थात् धन-धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाणव्रत है तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है।

इस प्रकार संचित परिग्रह को निरन्तर कम-कम करते जाने का संकल्प तथा संकल्पानुसार कार्य परिग्रह परिमाण कहा जाता है।

परिग्रह परिमाण आवश्यक – परिग्रह संचय एक मानवीय मानसिक विकृति

है जिसके कारण व्यक्ति जीवन भर दुख उठाता है तथा पाँचों पापों के कार्यो में संलग्न होता है। यहाँ तक कि परिग्रही की धारणा ही बन जाती है कि–

राम की चिड़िया, राम का खेत।
खा मेरी चिड़िया, भर ले पेट।।

संग्रह की प्रवृत्ति समाज में उथल पुथल मचा देती है जिसमें अभाव का रूप क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। यहॉ तक कि परिग्रही व्यक्ति विक्षिप्त जैसा हो जाता है जिसे हल पल परिग्रह की ही धुन सवार रहती है। नीति भी कहती है कि–

कनक-कनक तैं सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात जग, बा पाये बौराय।।

आचार्य उमास्वामी ने मनुष्यगति के आस्रव में अल्पआरम्भ और अल्प परिग्रह का भाव प्रमुख माना है– 'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य।'[21] वहीं बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है– ''बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।''[22] अब यह हमें विचार करना है कि हम परिग्रह का परिमाण करके मनुष्य बनना चाहते हैं या बहुत अधिक परिग्रह का संचय करके नरकगति के दुःख भोगना चाहते हैं। कबीर ने इसीलिए कहा कि–

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम।।[23]

कुछ लोग धर्म, दान, पूजा आदि के लिए धनादि परिग्रह संचय को उचित मानते हैं किन्तु 'क्राइस्ट' का कथन है कि 'पैसा बटोरकर दान करना वैसा ही है जैसा कि कीचड़ लगाकर धोना।'' संस्कृत में सूक्ति है कि– ''प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्'' अर्थात् कीचड़ लगने पर धोने से अच्छा है कि उसे दूर से ही त्याग दें। उसी प्रकार परिग्रह संचय कर दान करने की अपेक्षा परिग्रह त्याग ही उचित है। गृहस्थ को तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप परिग्रह परिमाण ही करना चाहिये।

परिग्रह संचय का ही यह दुष्परिणाम है कि एक ओर जहॉ लोग भूख से मर रहे हैं वहीं दूसरी ओर धनाढ्य वर्ग गरिष्ठ भोजन करके अपना स्वास्थ्य बिगाड़ रहे हैं। कुछ लोगों के 'लक्झरी' साधनों के लिए 'नेसेसरीज' वस्तुओं से भी लोग वंचित किये जा रहे हैं। तात्कालिक लाभ भले ही अनैतिक तरीकों से प्राप्त हो; उसे प्राप्त करने के लिए जी तोड़ मेहनत कर रहे हैं। ऐसे में यदि कोई समुचित मार्ग बचता है तो वह परिग्रह परिमाण ही है। कुंवर बैचेन ने ठीक ही कहा है—

तुम्हारे दिल की चुभन भी जरूर कम होगी।
किसी के पाँव से काँटा निकालकर देखो।।

एक बार महात्मा गांधी से किसी मारवाड़ी सेठ ने पूछा कि— गांधी जी, आप सबसे टोपी लगाने को कहते हैं; यहाँ तक कि आपके अत्यन्त आग्रह के कारण टोपी के साथ आपका नाम जुड़कर 'गांधी टोपी' हो गया है, लेकिन आप स्वयं टोपी क्यों नहीं लगाते?

यह प्रश्न सुनकर गांधी जी ने उनसे पूछा कि 'आपने यह जो पगड़ी बाँध रखी है इसमें कितनी टोपियां बन सकती हैं? मारवाड़ी सेठ ने कहा कि— "बीस"।

तब गांधी जी ने कहा कि "जब तुम्हारे जैसा एक आदमी बीस टोपियों का कपड़ा अपने सिर पर बाँध लेता है तो मुझ जैसे उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना पड़ता है।" यह उत्तर सुनकर वह सेठ निरुत्तर हो गये।

वास्तव में परिग्रह परिमाण ही गृहस्थ को सामाजिक बनाता है। परिग्रह की दीवारें हमारे प्रति घृणा एवं विद्वेष को जन्म देती हैं। अली अहमद जलीली का एक शेर है कि—

नफरतों ने हर तरफ से घेर रखा है हमें,
जब ये दीवारें गिरेंगी रास्ता हो जायेगा।।

परिग्रह परिमाण के लिए समाजवाद की अवधारणा सामने आयी।

समाजवाद की अवधारणा अगर अंश है तो परिग्रह परिमाण उस अंश को पाने की दिशा में उठाया गया महत्वपूर्ण कदम है जो क्रमशः परिमित होते हुए जब अपरिग्रह की स्थिति में आता है तो पूर्ण एवं सफल लक्ष्य बन जाता है। यहाँ अर्थ की अनर्थता की नित्य भावना करने वाला प्राणी धन को स्वपरोपकार का निमित्त मात्र मानता है। सर्वप्रथम अपनी अभिलाषाओं को सन्तोष में बदलकर वह दानशीलता की ओर उन्मुख होता है। परिग्रह का परिमाण करता है और निरन्तर आत्मविकास करता हुआ परिमाण किये परिग्रह में भी ममत्व छोड़कर पूर्ण अपरिग्रही बन जाता है।[24]

संसार में शान्ति परिग्रह परिमाण से ही संभव है। किन्तु स्वार्थ और संचय की प्रवृत्ति ने समाजवाद को स्थापित ही नहीं होने दिया। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने स्वार्थ की इस प्रवृत्ति का इस रूप में उल्लेख किया है—

> स्वागत मेरा हो
> मनमोहक विलासितायें
> मुझे मिलें अच्छी वस्तुएं
> ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी
> फिर भला बता दो हमें
> आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी?
> सबसे आगे में
> समाज बाद में।"[25]

परिग्रह परिमाण करके शेष सम्पदा के वितरण के विषय में आचार्य श्री की धारणा है कि—

> "अब धनसंग्रह नहीं
> जन संग्रह करो
> और
> लोभ के वशीभूत हो
> समुचित वितरण करो

अन्यथा
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं
चोरी मत कर, चोरी मत करो
यह कहना केवल
धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता उपचार
चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि चोरों को पैदा करने वाले
तुम स्वयं चोर हो
चोरों को पालते हो
और चोरों के जनक भी।''[26]

शेक्सपियर ने लिखा है कि– Gold is worse pain on the man in souls doing more murders in this world than any mortal drug.

अर्थात् सोना (स्वर्ण) मनुष्य की आत्मा को अत्यधिक रूप से दुखी करता है। किसी मरणदायक औषधि की अपेक्षा सोने के कारण संसार में अधिक हत्यायें हुई हैं।

अपने यहाँ कहावत है कि 'बुभुक्षितः किन्नु करोति पापं। अर्थात् भूखा मनुष्य क्या पाप नही करता? मुट्ठी भर लोगों के हाथ में पूंजी व अन्य सामग्री संगृहीत होकर जनता को त्रस्त करती हैं; जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। भूखा व्यक्ति सत्य-असत्य ओर हिंसा–अहिंसा के भेद को भूल जाता है। एक कवि ने लिखा है कि–

भूखे फकीर ने तड़पकर कहा–
सत्य की परिभाषा बहुत छोटी है
केवल एक शब्द रोटी है।

परिग्रह परिमाण अपने लिए ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के उपकार के लिए

आवश्यक है। आज तो लोग परिग्रह संचय के लिए न्याय-अन्याय का भेद छोड़कर अन्य जनों के अधिकारों को दबाकर भी शोषण करते हैं। बिडम्बना तो यह भी है कि परिग्रह को पाप बताये जाने के बाद भी उसके संचयी को पुण्यात्मा कहकर अभिनन्दनीय बना दिया गया है। यहाँ तक कि जिन भगवान ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया उन पर भी सोने-चांदी के छत्र चढ़ाये जाते हैं और उसे वैभव के रूप में महिमामंडित किया जाता है।

परिग्रह स्वयं में एक रोग है यह जिसे लग जाता है वह दिनरात इसी में लगा रहता है; किन्तु जो निष्परिग्रही होता है वह कभी बैचेन नहीं रहता। जिसके पास परिमित परिग्रह है वह चैन से रहता है, चैन से खाता है और चैन से सोता है तथा अणुव्रत रूप में पालन करे तो कर्मो की निर्जरा भी करता है अतः परिग्रह का परिमाण कर सुखी होना ही इष्ट है, उपादेय है।

सन्दर्भ

1. आचार्य ज्ञानसागर : वीरोदय महाकाव्य, 1/38-39, 2. आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव, 3 वृहत् हिन्दी कोश, पृ. 650, 4. आ उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र 7/17, 5 आ पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि 7/17/695, 6 वही, 6/15/638, 7. राजवार्तिक 4/21/3/236, 8 वही 6/15/3/525, 9 धवला 12/4, 2, 8, 6/282/9, 10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 3/24, 11 समयसार-आत्मख्याति/210, 12 आ. अमृतचंद्र · पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 117, 13. वही, 116, 14. सर्वार्थसिद्धि 7/17/695, 15. आ. गुणभद्र :, 16. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 119, 17. ज्ञानार्णव, 16/12/178, 18 सर्वार्थसिद्धि 7/20/701, 19. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल 339-340, 20. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 61, 21. तत्त्वार्थसूत्र 6/17, 22. वही, 6/15, 23. कबीर · साखी

24. स्वय का लेख- 'सामाजिक बनने की प्रथम शर्त अपरिग्रह भावना'
जैनगजट, वर्ष 100, अंक-30 में प्रकाशित।

25 मूकमाटी, 460-461, 26. वही, 467-468

—एल 65, न्यू इन्दिरा नगर
बुरहानपुर (म. प्र.)

आगम की कसौटी पर प्रेमी जी

–डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

पण्डित श्री नाथूराम 'प्रेमी' विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र थे। विचार नियन्त्रण में 'प्रेमी' जी का विश्वास नहीं रहता है। निन्दा एवं प्रशंसा उन्हें विचलित नहीं कर सकी है। वे एक ऐसे साहित्यकार थे जो चिन्तन संकीर्ण मतवादों, साम्प्रदायिक एवं सामाजिक स्थूल सीमाओं को पार कर गये थे। उनकी मान्यता थी कि चिन्तन को स्वतन्त्र करना अत्यन्त अवश्यक है। *उन्होंने समग्र भारतीय दर्शनों एवं भारतीय धर्मो का गहराई से अध्ययन किया* था। अध्ययन के साथ सामाजिक कार्यो में भी उनकी गहरी अभिरुचि थी।

'प्रेमी' जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर मुझे विचार नहीं करना है किन्तु उनकी इतिहासकार और साहित्यकार की छवि प्रत्येक अध्येतः को लुभाती है। साहित्य व्यक्ति के जीवन का साकार रूप होता है। साहित्य केवल जड़ शब्दों का समूह नहीं है, उसमें व्यक्ति का जीवन बोलता है। साहित्यकार की जिम्मेदारी होती है कि वह अपनी साहित्य-साधना को यथार्थ से जोड़कर चले। संस्कृति की संरक्षा में ही अपने विचारों को गतिमान् करे। विचार साधक या साहित्यकार के पथ के अन्धकार को नष्ट भ्रष्ट करने वाला अलोक है। विचारों की परिपक्वता साहित्य सृजन में महत्वपूर्ण योगदान देती है। यही कारण है कि साहित्यकार की समाज और संस्कृति के संरक्षण में अहं भूमिका होती है। वह समाज और शासन पर अंकुश लगा सकता है। वह समाज की कुप्रवृत्तियों को दूर कर सकता है। वह विकास के लिए कार्य करता है न कि संस्कृति के विनाश के लिए। जहाँ पं. श्री नाथूराम प्रेमी ने आधुनिक युग की भावनाओं को मान्यता प्रदान करायी, वहीं प्राचीन परम्परा और शास्त्र पुराणों में प्रतिपादित संस्कृति को नुकसान पहुँचा और उनकी साहित्यकार की भूमिका जैन शास्त्रों की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उन्होंने अपने अलेखों

में वर्ण संकरता और जाति संकरता दोषों की परवाह न कर अनेक आगम से प्रतिकूल लेख लिखे। उन्होंने रक्त शुद्धि पर विचार ही नहीं किया जबकि कर्मभूमि के प्रारम्भ में युगल उत्पत्ति न रहने के कारण रक्त शुद्धि बनाये रखने के लिए वर्ण व्यवस्था बनी। वर्ण और जाति निश्चित किये गये और उनके कार्यों को भी निश्चित किया गाय। युग के अन्त में प्रलयकाल के समय देव और विद्याधर कुछ जोड़ों को विजयार्ध सुरक्षित करते हैं उन्हीं में से तीर्थङ्कर और शलाका पुरुषों की परम्परा चलती है यह अनाद्य परम्परा है शास्त्रों में वर्णित अनाद्यनन्त परम्परा के विपरीत।

'प्रेमी' जी ने 'विधवा विवाह' का आगम की उपेक्षा कर समर्थन किया है। लेखन के माध्यम से ही समर्थन नहीं किया अपितु जैन समाज के मध्य इसके प्रचार-प्रसार के लिए आन्दोलन भी किये हैं। उनकी इस प्रवृत्ति के लिए स्वार्थ भावना वलवती रही है क्योंकि उनके लघुभ्राता सेठ नन्हेलाल जैन की पत्नी का असमय में निधन हो गया था। अपने भाई को विधुर नहीं देख सकने के कारण 8 दिसम्बर 1928 को एक 22 वर्षीया विधवा के साथ विधुर भाई का विवाह कराकर अपने विचारों को अमली वाना पहिनाया। आगम के पक्षघर लोगों को या कहिये धर्मभीरू जनों को नीचा दिखाने हेतु सागर (म. प्र.) के जन बहुल क्षेत्र चकराघाट पर एक सुसज्जित मण्डप बनवाया गया हजारों लोगों को एकत्रित किया गया और अनेक सुधारवादी लोगों के वक्तव्य कराये गये और अनन्तर देवरी में प्रेमी जी ने 12 दिसम्बर 1928 को एक प्रीतिभोज का भी आयोजन किया उस अवसर पर अनेक जैनेतर लोगों से समर्थन में भाषण दिलाये गये। सभापति के पद से म्युनिसिपैलिटी के अध्यक्ष पं. गोपाल राव रामले ने विधवा विवाह के समर्थन में व्याख्यान दिया और ग्राम वासियों ने उनका अभिनन्दन भी किया।

प्रेमी जी द्वारा विधवा विवाह का समर्थन चाहे लोकैषणा से किया गया हो या उनको अपना हित साधन करने हेतु करना पड़ा हो किन्तु जिनागम के अध्येता के द्वारा किया गया यह कार्य उचित नहीं है क्योंकि जैन शास्त्रों में कहीं भी उक्त कार्य का समर्थन नहीं है। निषेध के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

चन्द्रनखा को जब खरदूषण ने हरण कर लिया, तब रावण अत्यन्त क्रुद्ध होता है और खरदूषण को मारना चाहता है तभी मन्दोदरी कहती है–

कथञ्चिच्च हृतेप्यस्मिन् कन्याहरणदूषिता।
अन्यस्मै नैव विश्राण्या केवलं विधवी भवेत्।। 36।। पद्मपुराण पर्व

यदि किसी तरह वह खरदूषण मारा भी गया तो हरण के दोष से दूषित कन्या अन्य दूसरे को नहीं दी जा सकेगी उसे तो मात्र विधवा ही रहना पड़ेगा।

आदिपुराण का प्रसंग भी ध्यातव्य है जब सुलोचना ने स्वयंवर में जयकुमार के गले में वरमाला डाल दी, तब भरत सम्राट के पुत्र अर्ककीर्ति कुछ लोगों के भड़काने से युद्ध के लिए तैयार हो गये, उसी बीच अर्ककीर्ति कहते हैं "मैं सुलोचना को भी नहीं चाहता हूँ क्योंकि सबसे ईर्ष्या करने वाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणों से ही मर जावेगा तब उस विधवा से मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा।[1] रैनमन्जूषा, अनन्तमती चर्चा, सीता आदि के शीलपालन की अनुकरणीयता भव्य प्रमोद ग्रन्थ का यह कथन भी विचारणीय है–

मैं पति की झूठन भई योग न जोग न आन।
मेरी जो इच्छा करे के कागा के श्वान।।
यहाँ मुक्त होने पर विरक्ति का ही समर्थन है।

आचार्य सोमदेव ने यशस्तिलक चम्पू के 13वें अध्याय में विधवा के लिए दो मार्ग बताये हैं। एक जिनदीक्षा ग्रहण करना और दूसरा वैधव्य दीक्षा लेना। आचार्य वचन इस प्रकार है–

तत्र वैधव्य दीक्षायां देशव्रत परिग्रहः।
कण्ठसूत्र परित्यागः कर्णभूषणवर्जनम्।।
शेषभूषा निवृत्तिश्च वस्त्र खण्डान्तरीयकम्।
उत्तरीयेण वस्त्रेण मस्तकाच्छदनं तथा।।
खट्वा शय्याञ्जनालेपं हारिद्रप्लववर्जनम्।
शोकाक्रन्द निवृत्तिश्च विकथानां विवर्जनम्।।
प्रातः स्नानं तथा नित्यं सन्ध्यावन्दनं तथा।

प्राणायाम पूजनं अर्घ्यप्रदानं च यथोचितम्।।
त्रिसन्ध्यं देवतास्तोत्रं जपः शास्त्रश्रुतिः स्मृतिः।
भावना चानुप्रेक्षाणां तथात्म प्रतिभावनाः।।
पात्रदानं यथाशक्ति चैकभक्तमगृद्धितः।
ताम्बूलवर्जनं चैव सर्वमेतद्विधीयते।।

अर्थात् उस विधवा स्त्री को देशव्रत रूप अणुव्रत ग्रहण करना चाहिए। गले एवं कानों के आभूषणों का त्याग करना चाहिए। सभी प्रकार की आभूषणों का त्याग करना चाहिये। शरीर पर पहनने ओढ़ने के दो वस्त्र रखे पलंग पर नहीं सोना/आखों मे काजल न लगावे हल्दी का उवटन लगाकर स्नान नहीं करना। शोकपूर्ण रुदन न करे विकथा का त्याग करे। प्रातःकाल स्नान कर सन्ध्यवन्दन नित्य करे। प्राणामाम करे। पूजा करे अर्घ्यप्रदान करे त्रिकाल भगवान् के स्तोत्र पढ़े। जप करे शास्त्र पढ़े अनुप्रेक्षा का चिन्तवन करे, आत्म भावना भावे, प्रतिदिन पात्रदान यथाशक्ति करे। रसों को छोड़कर एकासन करे। पान खाना छोड़े और धर्मध्यान से ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे।

यहाँ पर स्पष्ट रूप से बताया गया है कि स्त्री को पति के मर जाने के बाद कैसे रहना चाहिए? अब पति के मरने क्या करना चाहिए के उत्तर आचार्य कहते हैं–

विधवा यास्ततो नार्या जिनदीक्षा समाश्रयः।
श्रेयानुतस्विद्वैधव्य दीक्षा व गृह्यते तदा।। 198।।

जो विधवा स्त्री है, उसे शीघ्र जिनदीक्षा ग्रहण करना चाहिए। आर्यिका बनना ही श्रेयस्कर है अन्यथा जघन्य पक्ष वैधव्यदीक्षा ग्रहण करना चाहिए।

शास्त्रों में उल्लेख मिलते हैं, जो विधवाएं हुई उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की है। रावण की मृत्यु होने पर मन्दरोदरी आदि 48 हजार स्त्रियों ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की थी।

आगम में कहीं भी दूसरे पति वाली स्त्री को सती नहीं कहा गया है यदि कहीं कहा गया हो तो उसे समर्थक बताये। इसके समर्थन से तो आगम

व्यवस्था बदल जायेगी। लोगों का कहना है कि छोटी उम्र में विधवा हो गई जीवन कैसे चलेगा, उनसे मेरा निवेदन है कि जैसा भोग के लिए प्रेरित करते हो वैसा धर्म के लिए भी तो प्रेरित किया जा सकता है।

विधवा से पुनः सन्तान उत्पन्न करना कहीं भी नहीं लिखा है। किसी कवि ने कहा भी है–

सिंहगमन सुपुरुष वचन, कदली फलै न बार।
तिरिया तैल हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार।।

सिंह जिस ओर से भी निकल जाता है, वापिस नहीं लौटता, साधु सज्जन पुरुष जो एक बार बोल देते हैं, उसे ही मानते हैं अपनी बात नही पलटते हैं। इसी प्रकार जिस स्त्री के एक बार विवाह के लिए तेल चढ़ गया सो चढ़ गया फिर कभी दूसरी बार नहीं चढ़ता। हमीर राजा की हठ की भी पुष्टि करने हेतु उदाहरण दिए हैं।

जैन पुराणों के अलावा वैदिक संस्कृति भी विधवा विवाह का समर्थन नहीं करती है। मनु स्मृति में विधवाविवाह का निषेध है। नैषधीय चरित में महाकवि हर्ष हंस के माध्यम से इस बात की पुष्टि करते हैं कि पशु पक्षियों में भी सच्चरित्रता की भावना होती है।[2]

विधवा विवाह का समर्थन न तो आगम ने किया न पुराण शास्त्र करते हैं किन्तु प्रेमी जी जैसे कुछ सुधारवादी मधु और चन्द्रा का उदाहरण लेकर पुष्टि करने की कोशिश करते हैं क्या एक स्त्री-पुरुष ने दोष पाप किया तो सभी को उस पाप प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना चाहिए विधवा भुक्त होने के कारण दोष युक्त तो है ही। कुछ लोगों का कहना है कि यदि पुरुष दूसरी शादी कर सकता है, तो स्त्री क्यों नहीं कर सकती है इस पर जैनाचार्यो ने कहा है कि पुरुष स्वर्ण घट सदृश है और स्त्री मृतिका घट रूप है। पुरुष छोड़ने वाला है और स्त्री गृहीता है अतः पुरुष दोष युक्त न होकर स्त्री ही दोष युक्त होती है इसीलिए पुनर्विवाह की अधिकारिणी नहीं है।

मनुष्यों की क्रिया में शुद्ध होने पर भी यदि उनके आप्त आगम निर्दोष नहीं

है तो उन्हें उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है जैसे कि क्रियाएँ शुद्ध होने पर भी विजातीय लोगों से कुलीन सन्तान रूप उत्तम फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[3] पद्मपुराण के एक उल्लेख से विजातीय विवाह का समर्थन किसी को भी उचित नहीं है।[4]

आगम साहित्य के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्थाओं का वर्णन नहीं है किन्तु पुराण साहित्य उसी का अनुकरण करता है और प्रथमानुयोग के अन्दर आता है, पुराण साहित्य को भी आगम की मर्यादा स्वीकार कर शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं। साहित्यकारों ने अपनी लेखनी को जो मर्यादा विहीन बनाया है उसकी को आधार बनाकर लिखा जा रहा है। प्रेमी जी ने विजातीय और अन्तर्जातीय विवाह का भी समर्थन किया है। वे एक विद्वान् थे, उन्हें लेखन के लिए आगम का अवलोकन अवश्य करना चाहिए था किन्तु उन्होंने निम्नलिखित आगम के सन्दर्भो की उपेक्षा कर विजातीय विवाह का समर्थन किया है।

त्रिलोकसार में मुनि को आहारदान देने वाले की शुद्धि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जातिसंकरादि दोषों से रहित पिण्ड शुद्धि वाला व्यक्ति ही आहार दान का अधिकारी है–

दुब्भाव असुचि सूदग पुप्फवई जाईसंकरादीहिं।
कयदाणा कुवत्ते जीवा कुणरेषु जायन्ते।। 924।। त्रिलोकसार

अर्थात् जो दुर्भावना, अपवित्रता, सूतक आदि से एवं पुष्पवती स्त्री के स्पर्श से युक्त जातिसंकर आदि दोषों से सहित होते हुए भी दान देते हैं और जो कुपात्रों को दान देते हैं, वे जीव मरकर कुभोग भूमि (कुमनुष्यों) में जन्म लेते हैं।

वर्ण, वंश, गोत्र अनाद्यनन्त हैं, इसी प्रकार जाति भी हैं आचार्य सोमदेव लिखते हैं– **"जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथा विधा।।** 18।। यशस्तिलक-चम्पू

सप्त परमस्थानों में सज्जातित्व को प्रथम स्थान दिया गया है जिसकी

परिभाषा भगवज्जिन सेनाचार्य ने इस प्रकार की है—

पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते।
मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते।। 85।।
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।। 86।।

अर्थात् पिता के वंश की शुद्धि को कुल और माता के वंश की शुद्धि को जाति कहते हैं तथा कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं और इस सज्जातिरूप सम्पदा से ही पुण्यवान मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम वंशों को प्राप्त होते हैं कहा भी है—

विशुद्ध कुल जात्यादि सम्पत्सज्जाति रुच्यते।
उदितोदित वंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती।। 84।।

शुद्ध कुल और शुद्ध जाति में जो उत्पन्न हुए हैं, उन्हें ही सज्जातित्व परमस्थान प्राप्त हुआ है, व होगा।

'सज्जाति' व्यवस्था है तो जातिव्यवस्था भावना ही होगी इस विषय मे गुणभद्रआचार्य कहते हैं – "जिनमें शुक्लध्यान के लिए कारण ऐसे जाति गोत्र आदि कर्म पाये जाते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ऐसे तीन वर्ण हैं, उनसे अतिरिक्त शेष शूद्र कहे जाते हैं विदेह क्षेत्र में मोक्ष जाने के योग्य जाति का कभी विच्छेद नहीं होता क्योंकि वहाँ उस जाति के ये कारणभूत नाम और गोत्र-सहित जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है परन्तु भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में चतुर्थकाल में ही जाति की परम्परा चलती है अन्य कालों में नहीं। जिनागम में उक्त प्रकार से ही वर्ण विभाग बतलाया गया है।[5]

आदिपुराण पर्व सोलह में विदेह क्षेत्र में विद्यमान वर्ण-व्यवस्था का चित्रण करते हुए असि, मषि, कृषि, विद्या वाणिज्य एवं शिल्प इन छह क्रियाओं की तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णो की स्थिति और घर ग्राम नगर आदि की व्यवस्था इस भरत क्षेत्र कर्मभूमि में भी होना चाहिए तभी सौधर्मेन्द्र ने जिनमन्दिर आदि सहित मांगलिक रचना की। षट्शिक्षाएँ और तीन वर्णो की स्थापना की। प्रजा को अपने अपने वर्णोचित कार्य निश्चित किए गये और वह

अपरिवर्तनीय बताये।[6]

इससे स्पष्ट है कि विदेह क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था अनादि है और भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित करने के कारण सादि है किन्तु इसके बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी आचार्य भक्ति में लिखते हैं 'देश, कुल जाति से शुद्ध विशुद्ध मन वचन काय से संयुक्त ऐसे हे गुरुदेव! तुम्हारे चरणकमल हमारे लिए हमेशा मंगलमयी होंवे।[7]

इस विषय को अधिक विस्तार का अवसर नहीं है। यह तो स्वतंत्र पुस्तक लिखने का विषय है अतः आचार्य सोमदेव के इस सन्देश को स्वीकार करिये धर्मभूमि में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं।[8] अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही सम्बन्ध करना चाहिए, अन्य कुजातियों की स्त्री से बन्धु वान्धवों की तथा व्रती स्त्रियों से भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिए।

स्व. बाबू श्री बहादुर सिहं सिंघी की स्मृति में "भारतीय विद्या" शीर्षक से प्रकाशित हुए तृतीय भाग में प्रेमी जी द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता विषय पर लिखा हुआ आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है। वे तत्त्वार्थाधिगम भाष्य के कर्त्ता उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता स्वीकार करते हैं, उनकी यह स्वीकारोक्ति प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी द्वारा प्रतिपादित मान्यता के समर्थन में है। सिंघवी जी उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का मानते हैं किन्तु पं. नाथूराम प्रेमी यापनीय परम्परा का बताते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के कर्तृत्व के सम्बन्ध में प्रेमी जी के विचारों से ऐसा लगता है कि उन्होंने मूल ग्रन्थों का विशेष अध्ययन नहीं किया था क्योंकि दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में तत्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छ और उमास्वामी के उल्लेख ही मिलते हैं। इस ग्रन्थ को कहीं भी यापनीय सम्प्रदाय का नहीं कहा गया है।

कलिकाल सर्वज्ञ उपाधिविभूषित आचार्य वीरसेन स्वामी काल द्रव्य की चर्चा करते हुए "तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिदतय सुत्ते विवर्तना परिणाम

क्रिया परत्वा परत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो" लिखते हैं।[9] जैनागम के अधिकारी विद्वान् आचार्य द्वारा लिखित पंक्ति स्पष्ट रूप से बता रही है कि तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छ की रचना है। आचार्य श्री विद्यानन्दि ने गृद्धपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनि सूत्रेण" इस पद द्वारा गृद्धपिच्छाचार्य को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता माना है।[10] हॉ आप्त परीक्षा की सोपज्ञवृत्ति में "तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि प्रभृतिभिः" वाक्य मिलता है जिसके आधार पर तत्त्वार्थसूत्र अपर नाम मोक्ष-शास्त्र के कर्त्ता उमा स्वामी को भी कहा जा सकता है किन्तु किसी भी दिगम्बराचार्य ने उमास्वाति को स्वीकार नहीं किया। सबसे बड़ी बिडम्बना यह है कि प्रेमी जी दिगम्बर जैन परम्परा के विद्वान् होते हुए तत्त्वार्थसूत्र को यापनीय परम्परा का लिख रहे हैं। उन्होंने पूरे तत्त्वार्थसूत्र में कौन सा सूत्र ऐसा पाया जो मूलाम्नाय से विपरीत हो अथवा शिथिलता का पोषण कर रहा हो। इस मूल संहिता रूप में मान्य ग्रन्थ को यापनीय कहना प्रेमी जी के आगम के अनभ्यास को बताता है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि प्रेमी जी ने आगम के प्रति श्रद्धा न रखकर पं. सुखलाल सिंघवी के साथ की मित्रता का निर्वाह किया। पं. सिंघवी जी ने उमास्वाति को तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता लिखा सो प्रेमी जी ने भी उसी का समर्थन किया। हाँ सिंघवी जी भी मित्रता निर्वाह में पीछे नहीं रहे, उन्होंने पहिले तो उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध किया बाद प्रेमी जी के साथ सहमति व्यक्त करते हुए यापनीय लिखा यापनीय सम्प्रदाय द्वारा मान्य स्त्रीमुक्ति आदि सिद्धान्त तत्त्वार्थसूत्र में देखने को नहीं मिलते अतः तत्त्वार्थसूत्र यापनीय सम्प्रदाय का बिलकुल भी नहीं माना जा सकता है। प्रेमी जी इस विषय में आगम के साथ न्याय नहीं कर पाये।

आगम के उल्लेखों को नकारना नहीं चाहिए क्योंकि एक प्रमाण से प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाण के प्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है अन्यथा प्रमाण के स्वरूप का अभाव प्राप्त हो जायेगा। आगम की प्रमाणिकता असिद्ध नहीं है क्योंकि जिसके बाधक प्रमाणों की असंभावना अच्छी तरह निश्चित है, उसको असिद्ध मानने में विरोध आता है अर्थात् बाधक प्रमाणों के अभाव में आगम की प्रमाणता का निश्चय होता ही है।

पं. प्रेमी जी ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार को आचार्य श्री समन्तभद्र से भिन्न

किसी अन्य आचार्य की कृति माना है, उन्होंने 'अनेकान्त' वर्ष 3-4 में "क्या रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं" इस शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था जिसमें श्री वादिराज सूरि के पार्श्वनाथ चरित से स्वामिनश्चरितंतस्य अचिन्त्यमहिमा, देवः, त्यागी एवं योगीन्द्रो तीन पद्यों से क्रमशः स्वामी, देव और योगीन्द्र इन तीन आचार्यो की स्तुति की है और क्रमशः अप्तमीमांसा देवागमस्तोत्र के कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र, देव पद से देवनन्दी जैनेन्द्र व्याकरण के कर्त्ता और रत्नकरण्डक श्रावकाचार के कर्त्ता योगीन्द्र ऊपर वाले किसी अन्य आचार्य को स्वीकार किया है।

ऐसे ही अन्य गवेषणाओं के साथ उन्होंने अपने जैन साहित्य और इतिहास में विषयों की प्रस्तुति की हैं जो ऊहापोह की सामग्री है। प्रेमी जी एक साहित्यकार और इतिहास विज्ञ सुयोग्य मनीषी अवश्य हैं किन्तु आगम की परिधि में रहकर लेखन करने वाले न होने से उन्हें आगम का श्रद्धालु तो नहीं माना जा सकता है। हाँ, उनकी तर्कणाशील मनीषा और साहित्य की सपर्या श्रेष्ठ है, जिसका विद्वत्परम्परा सम्मान करती है।

सन्दर्भ

1 नाहं सुलोचनार्थयस्मि मत्सरी यच्छैरय।
परासुरधुनैव स्यात् कि मे विधवया त्वया।। 65।। आ. पु. पर्व 44 पृ 391

2. भदैकपुत्रः जननी जरातुरा, नवप्रसूति वरटा तपस्विनी।
तयोद्वयो जनस्तमर्दयन अहोविद्येः त्वा करुणा न रुर्णाद्धि।।

3. आप्तागम विशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु।
नाभिजातफल प्राप्त्यै विजातिएिवव जायते।। 78।। उपा. पृ. 61

4. न जातिर्गर्हिता लोके गुणाः कल्याण कारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालानां चार्या ब्राह्मण विदुः।। पद्मपुराण

5. जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।। 493।।
अच्छेद्यो मुक्ति योग्याया विदेहे जाति सतते।
तद्धेतु नाम गोत्रादूया जीवाविच्छिन्न सभवात्।। 494।।

शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जाति सतति.।
एवं वर्णविभाग· स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।। 495।। उत्तर पुराण पर्व 74

6. आदिपुराण पर्व 16 श्लोक 143, 144, पृ 362, 363

7. देसकुल जाइसुद्धा विसुद्ध मणवयणकाय सजुत्ता।
तुम्ह पाय पयोरूहमिह मंगलमत्थु मे णिच्च।।

8. धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मर·।
यज्जात्यैव पराजातिध्रुलिगस्त्रियस्त्यजेत्।। 406।। उपासकाध्ययन

9. जीवट्ठाणानुयोगद्वार पृ. 316

10. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक

–रीडर-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज
बड़ौत (बागपत)

परमागम का बीज जो, जैनागम का प्राण।
'अनेकान्त' सत्सूर्य सो, करो जगत्-कल्याण।।
'अनेकान्त'–रवि–किरण से, तम अज्ञान विनाश।
मिट मिथ्यात्व-कुरीति सब, हो सद्धर्म प्रकाश।।
कुनय-कदाग्रह न रहे, रहे न मिथ्याचार।
तेज देख भागें सभी, दंभी-शठ-वटमार।।
सूख जायँ दुर्गुण सकल, पोषण मिले अपार।
सद्भावों का लोक में, हो विकसित संसार।।
– पं. जुगल किशोर 'मुख्तार'

पचास वर्ष पूर्व

भारतीय इतिहास का जैनयुग

–डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

इतिहास जातीय-जीवन के अतीत का सर्वाङ्गीण प्रतिबिम्ब होता है। अतीत में से ही वर्तमान का जन्म होता है। दोनों का परस्पर इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि बिना अतीत की यथार्थ जानकारी के वर्तमान का वास्तविक स्वरूप समझना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। अतः जातीय उन्नति के हित समाज शास्त्र के प्रधान अङ्ग जातीय इतिहास का ज्ञान परमावश्यक है।

ऐतिहासिक अन्वेषण एवं अध्ययन की सुगमता के लिये इतिहासकाल विभिन्न भागों में विभक्त कर लिया जाता है। इसी कारण भारतवर्ष अथवा भारतीय जाति का इतिहास भी विविध युगों में विभक्त हुआ मिलता है।

सर्वप्रथम, लगभग तीन हजार वर्ष का वह 'शुद्ध ऐतिहासिक काल' है जिसके अन्तर्गत राज्य सत्ताओं, सामाजिक संस्थाओं, धर्म, सभ्यता, साहित्य एवं कला आदि का नियमित, काल क्रमानुसार, बहुत कुछ निश्चित इतिहास (Regular History) उपलब्ध है।

शुद्ध ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ काल से पूर्व का कई सहस्र वर्ष का अनिश्चित समय ऐसा है जिसके अन्तर्गत होने वाले अनेक प्रसिद्ध पुरुषों, महत्वपूर्ण घटनाओं, धर्म, सभ्यता आदि के विषय में यद्यपि जातीय अनुश्रुति, पुरातत्व, जाति विज्ञान, मानुषमिति कपालमिति, भू विज्ञान इत्यादि के द्वारा अनेक ज्ञातव्य बातों का ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु कोई नियमितता और काल क्रम की निश्चितता नहीं है। उस काल-सम्बन्धी इतिहास धुंधला, सन्दिग्ध तथा अनिश्चित कोटि का होने से, 'अशुद्ध अथवा अनियमित इतिहास' (Proto History) कहलाता है।

उससे भी पूर्व का काल शुद्ध प्रागैतिहासिक (Prehistoric) है और इतिहास की परिधि के बाहिर है।

शुद्ध ऐतिहासिक काल के भी तीन विभाग किये जाते हैं—

(1) प्राचीन युग, जिसका वर्णन बौद्ध-हिन्दुयुग, अथवा केवल बौद्धयुग करके भी किया जाता है। यह युग नियमित इतिहास के प्रारम्भ काल से लगाकर मुसलमानों द्वारा भारत विजय तक चलता है (ई0 सन् की 12वीं शताब्दी तक)।

(2) मध्य युग— जिसे मुस्लिम युग भी कहते हैं, प्राचीन युग की समाप्ति से प्रारम्भ होकर अङ्गरेजों की भारत विजय तक चलता है। (18वीं शताबदी के मध्य तक)।

(3) अर्वाचीन युग अथवा आंग्लयुग अङ्गरेजों की भारत विजय के साथ प्रारंभ होता है।

साधारणतया, भारतीय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में सर्व प्रथम प्रागैतिहासिक कालीन पूर्व पाषाण युग, उत्तर पाषाणयुग, ताम्रयुग, लौहयुग, द्राविड़ जाति का भारतप्रवेश तथा उसकी सभ्यता, आर्यो का भारतप्रवेश और वैदिक सभ्यता आदि का अति संक्षिप्त वर्णन करने के उपरान्त रामायण तथा महाभारत के आधार पर कल्पित पौराणिक युग अथवा 'महाकाव्य-काल' (Epic Age) का वर्णन होता है। और उसके ठीक बाद भारतवर्ष के नियमित इतिहास का प्रारंभ बौद्धयुग के साथ-साथ कर दिया जाता है। महात्मा बुद्ध के समय की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति, उनका जीवन-चरित्र, उपदेश और प्रभाव मगध-साम्राज्य का उत्कर्ष सिकन्दर महान् का आक्रमण, सम्राट् अशोक के द्वारा बौद्धधर्मप्रचार, मगधराज्य की अवनति, शुङ्ग कन्व तथा गुप्त राजों के शासनकाल में आंशिक ब्राह्मणपुनरुद्वार और शक हूण आक्रान्ताओं का वृतान्त देते हुए ई. सन् की 7वीं शताब्दी में बौद्ध राजा हर्षवर्धन के साथ बौद्धयुग (Bubdhistic Period) की समाप्ति हो जाती है। तदुपरान्त राजपूत राज्यों का उदय तथा संक्षिप्त इतिवृत्त बतलाते हुए 12वीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद

गौरी द्वारा भारत विजय के साथ साथ भारतीय इतिहास का प्राचीन युग समाप्त हो जाता है।

भारतवर्ष के अधिकांश इतिहास-ग्रन्थों का यही ढाचा है। इसका श्रीगणेश 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में एलफिन्सटन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने किया था और उनका अनुकरण भारतीय विद्वान् आज तक करते आ रहे हैं।

किन्तु 20वीं शताब्दी के विकसित ज्ञान, बढ़े हुए अध्ययन तथा नवीन खोजों के आधार पर इस ढांचे में बहुत कुछ हेर फेर हुआ है। प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञों का मत है कि भारतवर्ष में मनुष्य का अस्तित्व अन्य देशों की अपेक्षा सबसे पहिले से पाया जाता है।[1] आर्यों के भारत प्रवेश से पूर्व कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व-द्राविड़ जाति पढ़ौसी देशों से आकर इस देश में बसी थी और द्राविड़ों के आने से भी पहिले मानव, यक्ष, ऋक्ष, नाग, विद्याधर आदि मनुष्य-जातियां इस देश में बसी हुई थीं। उनकी उन्नत नागरिक सभ्यता तथा सुविकसित धार्मिक विचारों के निर्देश हड़प्पा, मोहनजोदडो प्रभृति पुरातत्व तथा प्राचीन भारतीय अनुश्रुति में पर्याप्त मिलते हैं।

ईस्वी पूर्व तीन से चार हजार वर्षो के बीच आर्य लोगों ने पश्चिमोत्तर प्रान्तों से भारत में प्रवेश किया। यहां बसने के लगभग एक हजार वर्ष बाद वेदों की रचना की, उसके कुछ समय बाद रामायण वर्णित घटनायें घटीं, और सन् ईस्वी पूर्व 1500 के लगभग प्रसिद्ध महाभारत युद्ध हुआ। यह युद्ध वैदिक सभ्यता और वैदिक आर्य-राज्यसत्ताओं के ह्रास का सूचक था।

भारतवर्ष के नियमित इतिहास का, उसके प्राचीन युग का वास्तविक प्रारंभ महाभारत युद्ध के उपरान्त हो जाता है।[2] युधिष्ठर वंशजों का इतिहास, उत्तर वैदिक साहित्य का निर्माण, ब्रह्मवादी जन की उपनिषद विचारधारा, सोलह महजन पदों का उदय और परस्पर द्वन्द, अन्त में मगध की विजय, हमें बुद्धजन्म के समय तक पहुँचा देती है। इससे आगे का इतिहास पूर्ववत् चलता है।

इस प्रकार ईस्वी पूर्व 1400 से सन् ईस्वी 1200 तक का लगभग 2600 वर्ष का लम्बा काल भारतीय इतिहास का प्राचीन युग माना जाता है। अनेक

विद्वान् इसके आदि के 800 व अन्त के 400 वर्षो को प्रधानतया हिन्दु तथा बीच के लगभग चौदह सौ वर्षो को प्रधानतया बौद्धरूपी देखते हैं। कुछ एक तो सारे प्राचीन युग को मुख्यतया बौद्धदृष्टि से ही निरूपण करते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि सभ्यता एवं संस्कृति केवल अथवा अधिकांश में बौद्धमयी ही थी? क्या उस युग में जैन संस्कृति कोई सत्ता ही न थी, उसका कोई प्रभाव क्या कभी भी नहीं रहा? क्या भारतीय इतिहास में कभी कोई 'जैनयुग' नहीं हुआ? क्या वास्तव में प्राचीन भारतीय इतिहास के उक्त बहुभाग को 'बौद्धयुग' का नाम देना संगत तथा ऐतिहासिक सत्य है?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने से पूर्व एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐतिहासिक युगविभागों को मात्र प्राचीन, मध्य, अर्वाचीन-युग ही न कहकर हिन्दु, बौद्ध, मुसलमान, आंग्ल आदि संस्कृति अथवा धर्मसूचक नाम क्यों दिये जाते हैं?

वास्तव में जिस युग में जिस संस्कृति की सर्वाधिक महत्ता प्रभाव एवं व्यापकता रही हो, प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यक्तियों एवं प्रमुख राज्यवंशों से जिसे प्रोत्साहन, सहायता एवं आश्रय मिला हो, जनसाधारण के जीवन में जो सर्वाधिक ओतप्रोत रही हो, जातीय साहित्य, कलाओं, राजनीति, समाज-व्यवस्था, जनता के रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रिवाजों पर जिस संस्कृति ने विवक्षित युग में सर्वाधिक प्रभाव डाला हो उसी संस्कृति का निर्देशपरक नाम उक्त ऐतिहासिक युग को दे दिया जाता है और वैसा करना युक्तियुक्त भी है।

दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष सदैव से एक धर्मप्राण देश रहा है। जितनी संस्कृतियां यहाँ जनमीं और पनपीं उनमें से प्रत्येक का किसी न किसी धर्मविशेष के साथ सम्बन्ध रहा है। धर्म और संस्कृति का संबंध यहां अविनाभावी था, इसी कारण भिन्न भिन्न धर्मो के नामों से ही भिन्न भिन्न संस्कृतियां प्रसिद्ध हुई, यथा व्रात्य, श्रमण अथवा जैन, बौद्ध, हिन्दु-वैदिक अथवा पौराणिक, मुस्लिम इत्यादि।

अब देखना यह है कि प्राचीन भारत के उस अढ़ाई सहस्त्र वर्ष के लम्बे काल में किस संस्कृति तथा धर्म का इस देश में सर्वाधिक व्यापक प्रभाव एवं प्रसार रहा और उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण कहां तक उस बात की पुष्टि करते हैं?

भारतवर्ष विन्ध्य पर्वतमेखला द्वारा उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत ऐसे दो विभागों में विभक्त है। इन दोनों प्रदेशों का इतिहास प्राचीनकाल के अधिकांश एक दूसरे से प्रायः पृथक तथा स्वतन्त्र ही चला है। अस्तुः दोनों प्रान्तों का पृथक्-पृथक् विवेचन ही अधिक उपयुक्त होगा।

यह तो प्रायः निश्चित है कि भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में इस देश में हिन्दु, बौद्ध तथा जैन यह तीन ही धर्म विशेष रूप से प्रचलित थे। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी में महात्मा बुद्ध द्वारा हुई थी। उससे पूर्व स्वयं बौद्ध अनुश्रुति एवं साहित्य के अनुसार इस धर्म का कोई अस्तित्व न था। कोई स्वतन्त्र प्रमाण भी इस मत के विरोध में उपलब्ध नहीं है।

हिन्दु धर्म, जिसका पूर्वरूप वैदिक था तथा उत्तर रूप पौराणिक हिन्दु धर्म हुआ, सन् ईस्वी पूर्व लगभग 3 से 4 हजार वर्ष के बीच भारत में प्रविष्ट आर्य जाति के धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित था। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के बहुत पहिले से वह इस देश में विद्यमान था।

अब रहा जैनधर्म। गत पचास वर्ष की खोजों तथा अध्ययन के आधार पर आज प्रायः सर्व ही पाश्चात्य एवं पौर्वात्य प्राच्यविद्याविशारद इस विषय में एकमत हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म से सर्वथा भिन्न, उससे अति प्राचीन, एक स्वतन्त्र धर्म है। वैदिक धर्म के साथ-साथ वह इस देश में नियमित इतिहासकाल के प्रारंभ के बहुत समय पूर्व से प्रचलित रहा है और संभवतः आर्यो के भारत प्रवेश से पूर्व भी इस देश में प्रचलित था। वह शुद्ध भारतीय धर्मो में जो आज तक प्रचलित हैं, सबसे प्राचीन है* ।

इस प्रकार, महाभारत युद्ध के उपरान्त अर्थात् भारतीय इतिहास के

प्राचीन युग के प्रारम्भ में इस देश में केवल दो धर्म—वैदिक और जैन ही विशेषतः प्रचलित थे, तथा बौद्ध धर्म का उस समय कोई अस्तित्व न था।

महाभारत से ठीक पूर्व का समय उत्तरी भारत में पश्चिमोत्तर वैदिक, याज्ञिक अथवा ब्राह्मण संस्कृति के चरमोत्कर्ष का युग था, किन्तु महाभारत के विनाशकारी युद्ध ने समस्त वैदिक राज्यों को परस्पर में लड़ाकर शक्ति एवं श्रीहीन कर दिया। एक प्रबल क्रान्ति हुई, सैकड़ों, सम्भवतः सहस्त्रों वर्षो से दबाई हुई ब्रात्य-सत्ता देश में सर्वत्र सिर उठाने लगी। नवागत वैदिक आर्यो से विजित, दलित, पीड़ित व्रात्य क्षत्रियों की, नाग यक्ष विद्याधर आदि प्राचीन भारतीय जातियों की सत्ता लुप्त नहीं हो गई थी। जनसाधारण, यथा छोटे मोटे राज्यों, गणों और संघों के रूप में वह इधर उधर बिखरी पड़ी थी, इस समय अवसर पाकर उबल उठी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ईसा की 17वीं 18वीं शताब्दी में अकस्मात मराठों, राजपूतों, सिक्खों, जाटों आदि रूप में भड़क उठने वाली चिर सुषुप्त हिन्दु राष्ट्र शक्ति के सन्मुख भारत व्यापी दीखने वाली महा ऐश्वर्यशाली प्रबल मुस्लिम शक्ति बिखर का ढेर हो गई उसी प्रकार सन् ईस्वी पूर्व दूसरे सहस्राब्द के अन्त में तत्कालीन वैदिक आर्य सत्ता भी नाग आदि प्राचीन भारतीय व्रात्य क्षत्रियों की चिरदलित एवं उपेक्षित शक्ति के पुनस्थान से अस्त-व्यस्त हो गई। और लगभग डेढ़ सहस्र वर्षो तक एक सामान्य गौण सत्ता के रूप में ही रह सकी। उसके उपरान्त, इस बीच में जब वह प्राचीन जातियों में भली भांति सम्मिश्रित होकर, अपने धर्म तथा आचार-विचारों में देश कालानुसार सुधार करके अर्थात् व्रात्य धर्म-विरोधी याज्ञिक हिंसा आदि प्रथाओं का त्याग कर अपनी संस्कृति का नवसंस्कार करने में सफल हो सकी तभी गुप्तराज्य काल में (ईसा की 3री-4थी शताब्दी में) उसका पुनरुद्धार हुआ, किन्तु प्राचीन वैदिक रूप में नहीं, नवीन हिन्दु पौराणिक रूप में। उस पूर्वरूप तथा इस उत्तररूप मे प्रत्यक्ष ही आकाश-पाताल का अन्तर था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, महाभारत युद्ध के पश्चात् ही पश्चिमोत्तर प्रान्त में तक्षशिला तथा पंजाब में 'उरगयन' (उद्यानपुरी) के

नागराजों ने अवसर पाकर वैदिक आर्यो के केन्द्र तथा शिरमौर कुरु-पाञ्चाल देशों पर प्रबल आक्रमण करने प्रारंभ कर दिये। युधिष्ठिर के उत्तराधिकारी राजा परीक्षित को नागों के हाथ अपने प्राण खोने पड़े, परीक्षित पुत्र जन्मेजय का सारा जीवन नागों के साथ लड़ते बीता और अन्त में उनके वंशज निचक्षु को तथा अन्य कुरु-पाञ्चाल-देशों के नागराजों को स्वदेश छोड़कर पूर्वस्थ कौशाम्बी आदि में शरण लेनी पड़ी[3]। परिणामस्वरूप हस्तिनागपुर, अहिच्छेत्र, मथुरा, पद्मावती, भोगवती, नागपुर आदि में नागराज्य स्थापित हो गये। सिंध में पातालपुरी (पाटल) के नग तथा दक्षिणी पंजाब में सम्भुत्तर महाजनपद के साम्भवव्रात्य प्रबल हो उठे। पूर्वस्थ अंग, बंग, विदेह, कलिंग, काशी आदि देशों में भी नाग, नागवंशज (शिशुनाग), तथा लिच्छवि, वज्जी, भल्ल, मल्ल, मोरिय नात आदि व्रात्य-सत्ताएँ प्रबल हो उठीं।

व्रात्य श्रमणों के संसर्ग और प्रभावंश के शल, वत्स, विदेह आदि देशों के वैदिक आर्य भी याज्ञिक हिंसा एवं वेदों के लौकिकवाद (Matterialism) को छोड़ अध्यात्म के रंग में रंग गये। आत्मा में लीन, संसार-देह-भोगों से विरक्त विदेह व्रात्यों के सम्पर्क में ब्रह्मवादी, यज्ञविरोधी, अहिंसाप्रेमी जनक लोग भी विदेह कहलाने लगे। इस धार्मिक सामञ्जस्य एवं उदारता के कारण कुछ काल तक विदेह के जनक राजे, तत्कालीन राजनैतिक क्षेत्र में प्रमुख रहे, किन्तु पश्चिम के वैदिक आर्य उनसे भी व्रात्यों की भांति घृणा करने लगे, उन्हें भी अपने से वैसा ही हीन समझने लगे। उधर व्रत्य क्षत्रियों के प्रबल गणतन्त्र तथा नागों के कितने ही राज्यतन्त्र स्थान स्थान में स्थापित हो रहे थे। काशी में उरगवंश की स्थापना हुई। काशी के उरगवंशी जैन चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने समस्त तत्कालीन राज्यों से अपना आधिपत्य स्वीकार कराया[4]। उनके वंशज काशीनरेश अश्वसेन की पट्टरानी वामा देवी ने सन् ई. पूर्व 877 में 23वें जैन तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ को जन्म दिया। भगवान पार्श्व की ऐतिहासिकता आज निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है[5]। वह युग नागयुग था। भगवान पार्श्व नागवंश (उरगवंश) में ही हुआ था। उनके अनुयायी तथा भक्तों में भी नागजाति का ही विशेष स्थान था। उनका लाँछन (चिन्ह विशेष) भी नाग ही था। उन में प्राचीन से प्राचीन प्रतिमाएँ नागछत्रयुक्त ही मिलती हैं। जोदड़ों

तथा मथुरा के पुरातत्व में अनेक नागकुमार व नागकुमारियाँ योगीराज पार्श्व जिनकी भक्ति करती दीख रहती हैं। भगवान पार्श्व के धर्म प्रचार से रही सही याज्ञिक हिंसा भी समाप्त हो गई। याज्ञिक, देवतावादी वैदिकधर्म तथा अहिंसाप्रधान आत्मवादी जैनधर्म के बीच सामञ्जस्य और समन्वय बैठाने के प्रयत्न होने लगे। अनेक दर्शन तथा मत-मतान्तर पैदा होने लगे।

ई. पूर्व 777 में बिहार प्रान्त के सम्मेदशिखर से भगवान पार्श्व ने निर्वाण लाभ लिया। वह इस जैन युग के द्वितीय युगप्रवर्तक थे (प्रथम युगप्रवर्तक महाभारत कालीन 22वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे) और जैनधर्म के पुनरुद्धारक थे। उनके प्रचार से जैन धर्म का प्रसार अधिकाधिक विस्तृत हो गया था। किन्तु इस पुनरुद्धार कार्य में वह जैन संघ की पूर्ण सुदृढ़ व्यवस्था न कर पाये थे। उनके पश्चात अनेक नवोदित मत-मतान्तरों के कारण जैन दार्शनिक सिद्धान्त तथा आचार-नियम भी अच्छे व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूप में न रह गये थे। स्वयं उनकी शिष्य-परम्परा में बुद्धकीर्ति, मौद्‌गलायन, मक्खलिगोशाल, केशीपुत्र आदि विद्वानों मे सैद्धान्तिक मतभेद होने लगा था, उन विद्वानों ने अपने-अपने मन्तव्यों का प्रचार भी स्वतन्त्र धर्मो के रूप में करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसे समय में एक अन्य युगप्रवर्तक महापुरुष की आवश्यकता थी। अस्तु, ई. पूर्व 600 में अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर का जन्म हुआ। 30 वर्ष की आयु तक गृहस्थ में रहकर 12 वर्ष पर्यन्त उन्होंने दुद्धर तपश्चरण और योगसाधन कियां। तदुपरान्त केवलज्ञान (सर्वज्ञत्व) को प्राप्त कर नातपुत्त निर्ग्रन्थ महावीर जिनेन्द्र ने 30 वर्ष पर्यन्त सर्वत्र देश-देशान्तरों में विहार कर धर्मोपदेश दिया। जिस प्रान्त में उनका सर्वाधिक विहार हुआ वह विहार के ही नाम से प्रसिद्ध हो गया। ई. पूर्व. 527 में भगवान ने 'पावा' से निर्वाण प्राप्त किया।

उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्दिक संघ की स्थापना की, आचार नियमों से संघ की सुदृढ़ व्यवस्था कर दी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पांच प्रकार व्रतों को यथाशक्य मन, वचन काय से पालन करते हुए क्रोधमान मायालोभादि कषायों का दमन करते हुए सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रय की प्राप्ति ही अक्षय सुख के स्थान मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादन किया। वस्तुस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान के हित अनेकान्तात्मक स्याद्वाद, आत्मस्वातन्त्र्य के हित साम्यवाद, पुरुषार्थ का महत्व हृदयङ्गत कराने के हित कर्मवाद तथा स्वपर कल्याण के लिये परमावश्यक अहिंसावाद का सदुपदेश दिया। उनके उपदेश का प्रभाव सर्वव्यापक हुआ, आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य, सब ही उनके अनुयायी थे। उनके प्रधान शिष्य ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम आदि गणधरों ने उनके उपदेशित सिद्धान्तों को द्वादशाङ्गश्रुत के रूप में रचनाबद्ध किया और तदुपरान्त विशाल जैनसंघों द्वारा सहस्राब्दियों पर्यन्त इस देश के कोने-कोने में ही नहीं दूसरे प्रदेशों में भी भगवान महावीर के कल्याणमयी अहिंसाधर्म का स्रोत वहता रहा है।

भगवान महावीर से पूर्व की राजनैतिक परिस्थिति में राज्यों के आठ पड़ौसी जोड़े अर्थात् बौद्ध अंगुत्तरनिकाय एवं महावंश के सोलह महाजन पदों का जिक्र किया जाता है। अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार कम्बोज—बौद्ध अनुश्रुति के तत्कालीन सोलह महाजनपद हैं। हिन्दु अनुश्रुति (ऐतिहासिक पुराणों) मे भी उस समय के बारह प्रसिद्ध राजाओं का वर्णन किया है[6]। हिन्दु अनुश्रुति के प्रायः सब ही राज्य भारतीय संयुक्तप्रान्त, विहार तथा मध्यप्रान्त के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरे, वे किसी एक ही काल के सूचक नहीं वरन् महाभारत के जरासन्ध से लगाकर महावीर काल के पश्चात् तक के राज्य उसमें उल्लिखित हैं। ये सर्व ही राज्य केवल वैदिक आर्यो से संबंधित हैं, अवैदिक, व्रात्य, नाग, यक्ष, अनार्य राज्यों और प्रदेशों का साथ में कोई उल्लेख नहीं। इससे विदित होता है मानों पूरे दक्षिण भारत में उस समय कोई भी राज्य नहीं था। लगभग यही दशा बौद्ध अनुश्रुति की है। प्रथम तो बौद्ध अनुश्रुति ई. सन् की 6ठी 7वीं शताब्दी में सिंहल, बर्मा, तिब्बत, चीन आदि भारतेतर प्रदेशों में विदेशियों द्वारा संकलित हुई। दूसरे, उसमें उल्लिखित महाजनपद भी पश्चिमोत्तर प्रान्त के गांधार, कम्बोज व मध्य भारत के अश्मक, अवन्ति एवं चेदि को छोड़ सर्व ही वर्तमान संयुक्तप्रन्त तथा विहार के अन्तर्गत हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बाद को जब बौद्ध अनुश्रुति संकलित हुई उनके संकलन कर्त्ताओं ने हिन्दु अनुश्रुति के प्रसिद्ध राज्यों से जिनसे भी किसी समय बौद्धधर्म अथवा बौद्ध कथानकों का थोड़ा बहुत संबंध पाया, उन सब प्रदेशों से यह सोलह महाजन पद धड़ लिये।

इसके विपरीत जैन अनुश्रुति में, जो उक्त दोनों अनुश्रुतियों से कम प्राचीन नहीं वरन किन्हीं अंशों में अधिक प्राचीन है, शुद्ध भारतीय अनुश्रुति है और जिसका संकलन भी उन दोनों से पहिले होना प्रारम्भ हो गया था, भगवान महावीर के पूर्व के सोलह राज्य निम्नप्रकार वर्णन किये हैं–

अङ्ग, बङ्ग, मगह (मगध), मलय (चेदी), मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ (गुजरात काठियावाड़), पाढ़ (पांड्य), लाढ़ (राधा), आवाह (पश्मोित्तर प्रान्त) सम्भुत्तर, वज्जि, मल्ल, काशी, कोशल[7]।

प्रत्यक्ष ही जैन अनुश्रुति के इन महावीर-कालीन प्रसिद्ध सोलह राज्यों में प्रायः समस्त भारतवर्ष के हिन्दुकुश से कुमारी अन्तरीप, तथा बंगाल से काठियावाड़ तक के सर्व ही आर्य अनार्य राज्य आ गये, जिनका कि अस्तित्व उक्त समय के इतिहास में स्पष्ट मिलता है।

अङ्ग की राजधानी चम्पा थी। यह राज्य बङ्गाल और मगध के बीच में स्थित था इसके राज्य वंश तथा जनता में जैनधर्म की प्रवृत्ति अन्त तक बनी रही थी। राजधानी चम्पापुरी 12वें जैन तीर्थंकर वासुपूज्य की जन्मभूमि थी। ई. पू. छठी शताब्दी के मध्य में मगध के श्रेणिक (बिम्बसार) ने अङ्ग को विजय कर अपने राज्य में मिला लिया था।

बङ्गदेश में उस समय नाग, यक्ष आदि प्राचीन जातियों के छोटे 2 राज्य एक संघ में गुंथे हुए थे, किन्तु इनकी स्थिति स्वतंत्र रहते हुए भी गौण ही रही।

मगह अथवा मगध बाद को सर्व प्रसिद्ध एवं सर्वोपरि राज्य हो गया। राजधानी पञ्चशैलपुर (गिरिव्रज अथवा राजगृही) थी। काशी राज्य के ह्रास के साथ साथ इस देश में नाग क्षत्रियों की एक शाखा शिशुनाग वंश की स्थापना

हुई (ई. पू. 7वीं शताब्दी के प्रारंभ में) इस वंश के श्रेणिक (बिम्बसार), कुणिक, अजातशत्रु, उदयी आदि राजाओं के शासनकाल में शनैः शनैः अङ्ग, काशी, वज्जि, वत्स, कोशल, अवन्ति आदि राज्यों को विजय कर भारतवर्ष के प्रथम साम्राज्य-मगध साम्राज्य का उत्कर्ष एवं विस्तार होता चला गया। इस वंश के प्रायः सर्व ही राजे जैन थे। बिम्बसार प्रारंभ में महात्मा बुद्ध के उपदेश से प्रभावित हुआ था अवश्य, किन्तु जब ई0 पूर्व 558 में उसकी राजधानी से लगे हुए विपुलाचल पर्वत से भगवान महावीर की प्रथम देशना हुई तो वह उनका अनन्य भक्त हो गया। वह भगवान का प्रथम और प्रमुख गृहस्थ श्रोता था। उसके पुत्र अजातशत्रु व अभयकुमार तथा अन्य वंशज भी जैन धर्मानुयायी ही रहे।

शिशुनाग वंश के पश्चात् मगध में नन्दवंश का शासन रहा। प्रथम शासक सम्राट नन्दिवर्धन था। उसने राजगृही में प्रथमजिन भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा कलिङ्ग देश से लाकर स्थापित की थी।[8] उत्तरनन्द भी जैनधर्मानुयायी थे, उनका मन्त्री शकटाल जैनी था[9]। शकटाल के पुत्र ही प्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलभद्र थे।

नन्दवंश का उच्छेद कर सम्राट चन्द्रगुप्त ने मगध में मौर्यवंश की स्थापना की वह सर्वसम्मति से पक्का जैन सम्राट था। अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु स्वामी उसके धर्मगुरु थे। कुछ समय राज्यभोग करने के पश्चात् द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय सम्राट चन्द्रगुप्त गुरु तथा उनके संघ के साथ दक्षिण को चला गया था। वहाँ वर्तमान मैसूर राज्य के अन्तर्गत श्रवणबेलगोल के निकट चन्द्रगिरि पर्वत पर मुनिरूप में तपश्चरण कर अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह त्यागी थीं।[10] गिरनार, शत्रुंजय आदि तीर्थ यात्रा के समय उक्त पर्वत के नीचे उसने यात्रियों के लाभार्थ प्रसिद्ध सुदर्शन झील का निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी, बिन्दुसार तथा उसका प्रसिद्ध मन्त्री चाणक्य भी जैन ही थे।[11] राजनीति और समाजशास्त्र के इस प्रसिद्ध प्रकाण्ड आचार्य के जीवनसंबन्धी जितना वर्णन जैन अनुश्रुति में मिलता है अन्यत्र नहीं मिलता। मौर्य वंश के तृतीय सम्राट महाराज अशोक के धर्म का अभी कुछ निश्चित

निर्णय नहीं हो पाया। सामान्य धारणा उसके बौद्ध होने की है किन्तु डा. टामस[12] आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वानों का मत है कि वह जैन ही था और यदि उसने बौद्धधर्म अङ्गीकार भी किया तो अपनी अन्तिम अवस्था में। वास्तव में स्वयं बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने अपने शासनकाल में बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये थे। उस धर्म के प्रति अशोक की उपेक्षा का ही यह परिणाम हुआ कि तत्कालीन बौद्धधर्माध्यक्षो ने बौद्धों को भारतेतर प्रदेशों में प्रयाण कर जाने का आदेश दिया।

अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति तो निश्चय कट्टर जैन धर्मानुयायी था और जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में उसने वह सब प्रयत्न किये जिनका श्रेय भ्रम से बौद्धधर्म के लिये सम्राट अशोक को दिया जाता है। सम्प्रति के वंशज मगध के शालिशुक, देवधर्म आदि, अवन्तिका वृहद्रथ, गांधार के वीरसेन, सुभगसेन, काश्मीर के जालक—सर्व जैन थे।

ई. पूर्व की 3री शताब्दी के अन्त में मगध में क्रान्ति हुई। मौर्य वंश का उच्छेद कर ब्राह्मण शुङ्गवंश का और तत्पश्चात् कन्व वंश का राज्य कोई सौ सवासौ वर्ष रहा। यह दोनों वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। किन्तु कन्व वंश के पश्चात् फिर मगध वैशाली के जैन लिच्छवियों के अधिकार में आ गया। ई. सन् की 4थीं शताब्दी तक उन्हीं के अधिकार में रहा और अन्त में एक वैवाहिक संबंध के कारण लिच्छवियों की ही सहायता से गुप्तवंशी सम्राट हिन्दु-पुनरुद्धार के प्रवर्तक थे।

मलय अथवा चेदिका विस्तार मध्यभारत से लगा कर कलिङ्ग तक था। चेदिवंश की एक शाखा वर्तमान बुन्देलखंड आदि प्रान्तों में, जिसे मध्यकलिङ्ग भी कहा जाता था, राज्य करती थी। दूसरी शाखा कलिङ्ग (उड़ीसा) में। कलिङ्ग में बहुत प्राचीनकाल से जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। वीर-निर्वाण संवत् 103 में (ई. पूर्व 424) मगधसम्राट नन्दिवर्धन कलिङ्ग कों विजयकर वहाँ से प्रथम जिन की मूर्ति मगध में ले आया था। किन्तु उत्तर नन्दों के समय कलिङ्ग फिर स्वतन्त्र हो गया था। बिन्दुसार के शासनकाल में कलिङ्ग में फिर एक क्रान्ति हुई प्रतीत होती है। प्राचीन चेदिवंश के स्थान में किसी आततायी और उसके वंशजों का

शासन रहा। सम्राट सम्प्रति के अन्तिम दिनों में वहॉ चेदिवंश की पुनः स्थापना हुई। इस वंश को प्रसिद्ध सम्राट महामेघवाहन खारवेल था। समस्त भारत को इसने अपने आधीन कर लिया। मगध को भी विजय किया, पुष्यमित्र शुङ्ग, उसके सामने नतमस्तक हुआ युनानी दमित्र को उसने देश से बाहिर खेदड़ भगाया, सातकर्णी आन्ध्र, भोजक, राष्ट्रिक आदि सर्व राजे उसके आधीन थे। खारवेल जैनधर्म का दृढ़ अनुयायी था। इस धर्म के प्रचार प्रभावना के लिये उसने सतत प्रयत्न किये। जैन मगध-साम्राज्य के उपरान्त जैन, कलिङ्गसाम्राज्य हुआ। इस प्रकार उत्तरीभारत में सन् ई. पूर्व की 2री शताब्दी के मध्य तक जैनधर्म की ही प्रधानता रही।[13]

मालव अथवा अवन्ति में महावीर काल में प्रद्योतवंश का राज्य था। वहां का प्रसिद्ध राजा चंडप्रद्योत तथा उसका पुत्र पालक जैनधर्मानुयायी थे। नन्दिवर्धन ने अवन्ति को विजय कर अपने राज्य का सूबा बनाया, इसका उत्कर्ष मगधसाम्राज्य के अस्त होने के पश्चात् वरन् खारबेल की मृत्यु के उपरान्त प्रारंभ हुआ। खारवेल के पश्चात् उसके ही एक वंशज ने अवन्ति में जो खारवेल के राज्य का एक सूबा थी, स्वतन्त्र राज्य स्थापन कर लिया। अब उत्तर भारत की केन्द्रीय शक्ति मगध न रह गया था वरन् अवन्ति हो गई थी। अस्तु; तत्कालीन महाराष्ट्र के आन्ध्र, पद्मावती भोगवती के नाग, गुजरात के शक छत्रप सर्व ही अवन्ति पर दॉत लगाये रहते थे। तथापि लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक वहां जैन गर्दभिल्ल वंश का ही राज्य रहा। प्रसिद्ध सम्राट् प्रथमविक्रमादित्य, इसी गर्दभिल्ल वंश के थे। उनके पिता के अनाचारों के कारण उनके जन्म से पूर्व ही नवागत शकों का अवन्ति पर अधिकार हो गया था, किन्तु होश संभालने पर उन्होंने शको को देश से निकाल बाहर किया। उनका शासन सर्व प्रकार से कल्याणप्रद तथा आदर्श रहा। जैनाचार्य कालक सूरि के प्रभाव से वह दृढ़ जैनधर्म भक्त हो गये थे। उन्हीं की स्मृति में प्रचलित विक्रम संवत् चला। इस संवत् के सबसे प्राचीन और सबसे अधिक उपयोग जैन साहित्य एवं पुरातत्व में ही मिलते हैं।

सम्राट् विक्रम के पश्चात् कुछ समय तक गुजरात के शकों का अवन्ति पर

अधिकार रहा। रुद्रसिंह, रुद्रदामन, जयदामन, नहपान आदि ये शक छत्रप भी जैन ही थे। इन शकों का उच्छेद अवन्ति से आन्ध्र राजों ने किया और यह आन्ध्र राजे भी अनार्य तथा जैन-धर्मानुयायी ही थे। दूसरी शताब्दी ईसवी में आन्ध्र वंश के अस्त तथा 4थी शताब्दी में गुप्त वंश के उदय के बीच महारथी नामक नाग एवं वकातक सदार प्रबल रहे उन्हीं का आधिपत्य अधिकांश मध्य तथा दक्षिण भारत पर रहा। ये नाग राजे प्रायः सर्व ही जैनधर्मानुयायी थे। उनकी नागभाषा (प्राकृत व अपभ्रंश) जैन साहित्य की ही मुख्य भाषा थी। उक्त नागयुग में जैन विद्वानों ने नागरी लिपि का अविष्कार किया, जैन शिल्पकारों ने जैन मन्दिरों में नागर शैली का प्रचार किया।

अच्छ अथवा अश्मक दक्षिण भारत के उत्तरपूर्व का प्रदेश था। इसकी राजधानी पोदनपुर जैनों का एक पवित्र स्थान अति प्राचीनकाल से रहा है। सम्राट खारवेल की मृत्यु के पश्चात् कलिङ्ग वंश की ही एक शाखा का यहां राज्य रहा। इसी कारण यह प्रान्त त्रिकलिङ्ग का दक्षिण कलिङ्ग कहलाया। नागयुग में यह प्रसिद्धं फणिमण्डल के अन्तर्गत था और आचार्यप्रवर, सिंहनन्दि, सर्वनन्दि, समन्तभद्र, पूज्यपाद आदि का कार्यक्षेत्र था। वाद को यह प्रान्त पहले पल्लव फिर गङ्गवाड़ी के जैन गङ्गराज्य में सम्मिलित हो गया।

वच्छ अर्थात् वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी थी। नागों के प्रबल आक्रमणों के कारण पांडवों के वंशज निचक्षु आदि ने इस देश में अपना राज्य स्थापित किया था। किन्तु पड़ौसी व्रात्यों संसर्ग में वत्स देश के कुरुवंशी वैदिक आर्य भी व्रात्संस्कृति में रंगे गये और उन्होंने जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया। महावीरकाल में स्वप्नवासवदत्ता की प्रसिद्धि वाला वत्सराज उदयन जैनधर्म का भक्त था। किन्तु उसके एक दो पीढ़ी बाद ही मगध के शिशुनाग सम्राटों ने वत्स को विजय कर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

कच्छ अर्थात् काठियावाड़ प्रान्त में उस समय वर्तमान गुजरात तथा बम्बई प्रेजीडेन्सी का बहुभाग था। महाभारत काल में मथुरा के यदुवंशी राजा समुद्रविजय ने द्वारका में अपना राज्य स्थापन किया था। उनके पश्चात् उनके भतीजे नारायण कृष्ण राज्य के उत्तराधिकारी हुए। कृष्ण महाराज के ताऊजाद

भाई 22वें जैनतीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। कृष्ण की ऐतिहासिक निर्विवाद है तब कोई कारण नहीं कि अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति न माना जाए? दूसरे, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व वैदिक तथा हिन्दु पौराणिक साहित्य से भी सिद्ध है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है वह काल उत्तरीभारत में वैदिक सभ्यता के चरमोत्कर्ष का था। यज्ञादि में ही नहीं, विवाहादि उत्सवों के अवसर खान पान के लिए भी विपुल पशुहिंसा होती थी। अपने विवाह के उपलक्ष में वैसी हिंसा का आयोजन देख ब्रह्मचारी कुमार नेमिनाथ को वैराग्य हो गया, जूनागढ़ (श्वसुरालय) के निकट विवाह का संकल्प त्याग घर छोड़ गिरनार पर्वत पर जाकर तपश्चरण करने लगे। केवलज्ञान प्राप्त कर जनता में अहिंसा धर्म का प्रचार किया, मध्यभारत एवं दक्षिणपथ में जैनधर्म का पुनरुद्धार किया। और उस प्रान्त में उस समय से जैनधर्म अस्खलित रूप में ईस्वी सन् की 6ठी 7वीं शताब्दी तक तो सारे ही दक्षिण में तथा कुछ एक प्रान्तों में 13वीं 14वीं शताब्दी तक प्रधानरूप से चलता रहा। इस प्रान्त (कच्छ) में कुछ काल तक तो जैनधर्म प्रधान यदुवंश का राज्य चला तदुपरान्त पार्श्वनाथ के समय पाटल (सिन्ध) के नागों का आधिपत्य हो गया। तदुपरान्त सिन्धु सौवीर के व्रात्य, तथा मालवे के मल्ल व्रात्यों का अधिकार रहा। मौर्य राजाओं ने अपनी विजयपताका उस प्रान्त तक पहुँचा दी थी। किन्तु मौर्यो के पश्चात् सिन्धु की ओर से आने वाले शक छत्रपों का यहाँ राज्य रहा। कुछ काल आन्ध्रों के आधीन यह देश रहा। अन्त में सोलंकियों के समय इसका विशेष उत्कर्ष हुआ। इस प्रान्त में महाभारत के समय से लगाकर 15वीं 16वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्म की प्रधानता बनी रही। अनेक जैन तीर्थ विपुल जैन पुरातत्व इस प्रान्त में हैं। अनेक विद्वान् दिगम्बर श्वेताम्बर जैनाचार्यो ने इस प्रान्त में विशाल जैन-साहित्य का निर्माण किया। आज भी वहाँ जैनों की संख्या पर्याप्त और उनकी समृद्धि सर्वाधिक है।

पाढ़ अर्थात् पांड्य सुदूर दक्षिण का प्रसिद्ध तामिल राज्य था। अति प्राचीनकाल से इस अनार्य राज्य की स्थिति थी, जैनधर्म की प्रवृत्ति भी इस राज्य में प्राचीनतम काल से चली आती थी। महावीर काल में यह राज्य समस्त तामिल प्रान्त में सर्वोपरि था, चेर, चोल, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, आदि

अन्य तामिल राज्य तथा लंका आदि द्वीप इसके आधीन थे और ईस्वी सन् के प्रारंभ तक वैसे ही चलते रहे। पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा दक्षिण में जैनों का सबसे बड़ा केन्द्र था तामिल के प्रसिद्ध संगम साहित्य का अधिकांश जैन पांड्य राजाओं की छत्रछाया में प्रकॉड विद्वानों द्वारा ही निर्मित हुआ था। जैन मौर्यसम्राट तथा कलिङ्ग नरेश जैन खारवेल से पांड्य नरेशों का मैत्री संबंध था। लंका आदि द्वीपों में भी ई. पूर्व की छठी शताबदी के स्तूप आदि जैन अवशेष मिले हैं। अशोक के समय से लंका में अवश्य ही बौद्ध धर्म का प्रचार होना प्रारंभ हो गया, किन्तु तामिल राज्यों में सन् ई. 6ठी 7वीं शताब्दी तक जैनधर्म की प्रवृत्ति रही। उसके उपरान्त शैव तथा वैष्णव धर्मो के नवप्रचार के कारण तथा तत्संबंधित राज्यवंशों के धर्म परिवर्तन के कारण जैनधर्म की प्रगति को आघात पहुँचा और वहाँ उसका ह्रास प्रारंभ हो गया।

लाढ़ मध्योत्तर दक्षिण भारत का राज्य था। यहाॅ महावीरकाल में राष्ट्रिक, भोजक, आन्ध्र आदि अनार्य राज्यों की सत्ता थी। उसके पूर्व वहाँ यक्ष, विद्याध ार आदि जैन अनार्य राज्य थे, ई. पू. प्रथम शताबदी में ही आन्ध्र राज्य सर्वोपरि हो गया और उसने अन्य पड़ौसी सत्ताओं को अपने में गर्भित कर साम्राज्य का रूप ले लिया। ये सर्व राज्य और इनकी प्रजा अधिकतर अन्त तक व्रात्य संस्कृति की पालक और जैनधर्मानुयायी ही रही।

आबाह पश्चिमोत्तर प्रान्त था। बौद्ध अनुश्रुति के गांधार, कम्बोज और जैन अनुश्रुति के तक्षशिला तथा उरगयन नामक नाग गणराज्यों का यह एक संघ था। ये नाग लोग वैदिक आर्य-संस्कृति के विरोधी और व्रात्य-संस्कृति के पोषक थे।

सम्भुत्तर महाजनपद मध्य पञ्जाब का प्रसिद्ध व्रात्य क्षत्रियों का राज्य था। सैन्धवान के साम्भव लोग भगवान संभवनाथ (3रें तीर्थकर, जिनका चिन्हविशेष 'अश्व' था) के अनुयायी थे। इस राज्य की सत्ता सिकन्दर महान के आक्रमण के समय भी थी। सिकन्दर ने भडङ्कर युद्ध के पश्चात् इस राज्य पर एक अस्थायी विजय प्राप्त की थी[14]।

पूर्व का वज्जिसंघ तो व्रात्य क्षत्रियों का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। महावीर

काल में इसके नायक वैशाली के राजा चेटक थे। वज्जिसंघ के ही अन्तर्गत कुंडलपुर के ज्ञातृवंशी लिच्छवि-नरेश सिद्धार्थ के ही पुत्र भगवान महावीर थे। वैशाली के राजा चेटक उनके नाना थे। चेटक की एक कन्या मगधराज श्रेणिक को, दूसरी वत्सराज उदयन को और तीसरी कोशल के राज्य वंश में वियाही थी। इन सर्व राज्यों, गणों और वहां की जनता पर भगवान महावीर का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था, वे सब उनके परमभक्त अनुयायी थे। यह वज्जिसंघ गणतन्त्र का आदर्श था।

नवोदित मगध साम्राज्य की साम्राज्याभिलिप्सा के कारण वज्जिसंघ और मगधराज्य में द्वन्द चलता रहा, अंत में अजातशत्रु ने वैशाली विजय कर वज्जिसंघ को छिन्न-भिन्न कर दिया, किन्तु भले ही गौण रूप में, लिच्छवियों का अस्तित्व सन् ई. 6-7वीं शताब्दी तक बना रहा।

मल्ल भी वज्जिसंघ की ही एक पड़ौसी व्रात्य जाति का गणतन्त्र था। पावा इनका प्रधान नगर था। वहीं भगवान महावीर का निर्वाण हुआ।

काशी के संबंध में ऊपर कहा ही जा चुका है। भगवान महावीर के जन्म के पूर्व ही वह कोशलराज्य में सम्मिलित हो गया था। अजातशत्रु ने कौशल से उसे छीनकर मगध में मिला लिया था।

कौशल में प्राचीन सूर्यवंशी राजों का ही राज्य चला आता था, महावीर काल में वहां का राजा प्रसिद्ध प्रसेनजित था, जो भगवान महावीर का भक्त था। उसके उपरान्त कोशल भी मगध-राज्य में सम्मिलित हो गया।

दक्षिण में ईस्वी सन् के प्रारंभकाल से ही अनेक राज्य-नाग, पल्लव, गङ्ग, चालुक्य, होयसल, राष्ट्रकूट आदि स्थापित होने लगे थे। उन सबमें ही प्रारंभ से जैनधर्म की ही प्रवृत्ति रही। किन्तु सन् ई. 5वीं शताब्दी के उपरान्त शैव वैष्णव धर्मो के बढ़ते हुए प्रचार के आगे तत्संबंधी राज्यवंशों के आगे पीछे धर्मपरिवर्तन के कारण धीरे धीरे वहाँ जैनधर्म का ह्रास होता चला गया। तथापि मध्य युग के मध्य तक दक्षिण प्रान्त में जैन धर्म की ही सर्वाधिक प्रधानता रही।

इस प्रकार भारतीय इतिहास के प्राचीन युग में महाभारत के उपरान्त उत्तरभारत में लगभग 3री शताब्दी ई. तक तथा कितने ही प्रान्तों में 13वीं 14वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्म की ही प्रधानता रही, राज्यवंशों, प्रसिद्ध राजाओं तथा जनसाधारण सभी की दृष्टि से।

इस सांस्कृतिक प्रधानता का परिणाम भी प्रत्यक्ष हुआ। वैदिक संस्कृति तथा उससे उद्भूत पौराणिक धर्मो से याज्ञिक हिंसा सदैव के लिये विदा ले गई। खानपान में सुरा और मांस का यदि नितान्त लोप नहीं हो गया तो वह घृणित और त्याज्य अवश्य समझे जाने लगे। बौद्धों ने जीव हिंसा का तो विरोध किया किन्तु मांस मदिरा के भक्षणपान का समर्थन और प्रचार करने में कोई कसर नहीं की तथापि जैनधर्म के ही प्रभाव से वह वस्तुएँ अभक्ष्य ही हो गई।

जुआ, पशुयुद्ध, स्त्रीपुरुष के बीच धार्मिक बंधन की शिथिलता, तजन्य व्यभिचार एवं विषयाधिक्य आदि आर्यो और बौद्धों के प्रिय व्यसन कुव्यसन कहलाने लगे। अनेकान्त दृष्टि के प्रचार से धार्मिक उदारता सहिष्णुता, मतस्वातन्त्र्य आदि को पुष्टि मिली। जाति और कुल धर्मसाधन में बाधक नहीं रहे। आत्मवाद ने जड़वाद का बहिष्कार कर दिया। और कर्मसिद्धान्त ने दैव के ऊपर भरोसा कर हाथ पर हाथ रख बैठ रहना भुला दिया। देव-पूजा और भक्ति के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर इहलौकिक फल की प्राप्ति के प्रयत्न के स्थान में आत्मसाधना करना सिखाया। जड़वाद का स्थान अध्यात्मवाद ने ले लिया, रूढ़िवाद का युक्तिवाद और विवेक ने। ज्ञान, भक्ति और सदाचार की त्रिवेणी बहा दी।

इसके अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, तैलेगु, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं में विविध विषयक विपुल सुन्दर एवं उच्च कोटि का साहित्य जैनविद्वानों द्वारा जैन राजाओं और श्रेष्टियों के प्रोत्साहन से जितना और जैसा इस जैनयुग में रचा गया अन्य किसी दूसरे युग में किसी दूसरी संस्कृति द्वारा नहीं। तत्वज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, इतिहास, नीति, समाजशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, मन्त्रशास्त्र, न्यायशास्त्र, कथा-साहित्य,

काव्य, नाटक, चम्पु, तर्क, छन्द, अलङ्कार, व्याकरण, संगीत, शिल्पशास्त्र—स्यात् ही कोई विषय ऐसा बचा हो जिस पर जैनविद्वानों ने सफलतापूर्वक कलम चला कर भारती के भंडार को समृद्ध एवं अलंकृत न किया हो। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, नाटक, संगीत, काव्य सर्व प्रकार की ललित कलाओं में जैनों ने नायकत्व किया। इस सबके प्रमाण उपलब्ध जैनसाहित्य और पुरातत्व में पर्याप्त मिलते हैं।

भाषाओं और लिपि के विकास में सर्वाधिक भाग जैनों ने ही लिया और इसी जैनयुग में। ब्राह्मीलिपिका आविष्कार कहा जाता है भगवान ऋषभदेव ने किया था, किन्तु वह हमारे युग से पूर्व की बात है, तथापि ब्राह्मी लिपि का सर्व-प्रथम उपयोग अधिकतर जैनों द्वारा ही हुआ मिलता है। मोहनजोदड़ो के मुद्रालेखों के अतिरिक्त ई. पूर्व 5वीं शताब्दी का बड़ली अभिलेख, मौर्यकालीन गुइभिलेख, शिलाभिलेख, स्तंभ लेखादि, खारबेल के अभिलेख, गुजंरात यथा दक्षिण के अभिलेख इसके साक्षी हैं। देश के कोने कोने में और प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्थानों में जैनतीर्थ उसी प्राचीन काल ले चले आते हैं। ब्राह्मी से नागरी लिपि का विकास जैन विद्वानों द्वारा ही हुआ। स्थापत्य-कला की नागरशैली के अधिष्ठाता भी वही थे। चित्रकला का शुद्ध भारतीय प्रारंभ भी इन्होंने किया। स्तूप, गुफायें, चैत्य, मन्दिर, मूर्ति इत्यादि के प्रथम जन्मदाता इस जैन युग के जैन ही थे।

समाज व्यवस्था तथा आधुनिक जातियों की पूर्वज व्यवसायिक श्रेणियों और निगमों का संगठन एवं निर्माण जैन युग में जैन नीतिशास्त्र के आचार्यो तथा जैन गृहस्थ व्यवसायियों द्वारा ही हुआ।

जैन व्यापारियों तथा श्रमणाचार्यों द्वारा भारत का प्रकाश भारतेतर देशों तक फैला, वृहद् भारत के निर्माण में इनका पूरा पूरा हाथ था।

देश के कोने कोने में उस युग सम्बन्धी जैन स्मारक आज भी उपलब्ध हैं, और चाहे अल्प अल्प संख्या में ही हो देश के प्रत्येक भाग में जैनों का अस्तित्व है।

वास्तव में बौद्धधर्म की स्थिति तो उस युग में जहाँ तक भारतवर्ष का

संबंध है प्रायः नगण्य ही थी। गौतमबुद्ध का स्वयं तत्कालीन राज्य-वंशो पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उनके जीवनकाल में ही उनके पिता का राज्य, राजधानी तथा शाक्यवंश प्रायः नष्ट हो गया था। सिकन्दर और मेगस्थनीज के समय बौद्ध सम्प्रदाय कुछ एक "झगड़ालु व्यक्तियों" का सामान्य सा सम्प्रदाय मात्र था। अशोक के समय तक बौद्ध तीर्थो पर राज्य की ओर से यात्री कर लगा हुआ था[15]। इस सम्प्रदाय के प्रति शासन की कठोरता और उपेक्षा के कारण उस समय के बौद्धधर्माध्यक्ष तिस्मने बौद्धभिक्षुओं को देशान्तर में सो भी उज्जडु, असभ्य सुदूर प्रदेशों में जाकर निवास करने और धर्म प्रचार करने की आज्ञा दी। इस देश में तो मात्र कुछ कट्टर बौद्धभिक्षुओं ने जैसे तैसे अपना अस्तित्व बनाये रखा और जब जब राज्यक्रान्तियों अथवा सामाजिक उथल-पुथल के कारण उन्हें सुयोग मिला, उन्होंने अपना धार्मिक स्वार्थसाधन किया, किन्तु विशेष सफल फिर भी न हो सके और इसी युग में सन् ई. 7वीं 8वीं शताब्दी तक इस देश से उनका नाम शेष हो गया। सीमान्त प्रदेशों में तथा बाह्यदेशों मे अवश्य ही वह शक, हूण, मङ्गोल आदि विदेशी आक्रान्ताओं को प्रभावित कर अपनी शक्ति बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहे। सिंहल, पूर्वाभिद्वीपसमूह, स्वर्ण-द्वीप (मलाया), ब्रह्मा, चीन, जापान, तिब्बत मङ्गोलिया आदि में अवश्य ही अत्याधिक सफल हुए, ठीक उसी तरह जैसे 15वीं 16वीं शताब्दि में इंग्लैण्ड से बहिष्कृत, राज्य और प्रजा दोनों द्वारा पीड़ित थोड़े से धर्मयात्री (Pilgrim Enthers) आज अमरीका जैसा महाशक्तिशाली राष्ट्र निर्माण करने में सफल हो गये।

जैनों की आज की राजनैतिक, सामाजिक स्थिति, अल्प संख्या, अपने महत्व को स्वयं न समझने तथा अपने प्राचीन साहित्य के अमूल्य रत्नों को प्रकाशित न कर ताले में बन्द भंडारों में कीड़ों का ग्रास बनाने, पुरातत्वसंबंधी अमूल्य निधि को न पहचानने और जानने का यत्न न करने आदि से उनके इस युग में प्राप्त महत्व तथा प्रधानता का अनुमान करना तनिक कठिन है। किन्तु निष्पक्ष इतिहास प्रेमी को अब भी इस लेख में विवेचित तथ्यों की साक्षी में पर्याप्त प्रबल प्रमाण मिल सकते हैं और मिलते हैं। किसी जाति की वर्तमान हीन अवस्था से यह निष्कर्ष निकालना कि यह

सदैव से वैसी ही रही होगी युक्तियुक्त नहीं है। महात्मा ईसा के पश्चात् भी कई सौ वर्ष पर्यन्त क्या युरोप में इसाइयों की वहीं अवस्था थी जो आज है? हजरत महम्मद के बहुत पीछे तक क्या मुसलमानों की संख्या और प्रभुत्व उतना था, जितना कि पीछे हो गया?

विद्याधर, ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि वह अनार्य जातियां जिनकी उच्च नागरिक सभ्यता ने नवागत वैदिक आर्यो को चकाचौंध कर दिया था आज कहां हैं? मोहनजोदड़ो सभ्यता के संरक्षकों का क्या आज कहीं कोई अस्तित्त्व है?

अस्तु, भारतवर्ष के इतिहास का प्राचीनयुग, कम से कम उसका बहुभाग जैन संस्कृति की प्रधानता एवं प्रभुत्व का युग था, राजा-प्रजा अधिकांश देशवासी जैनधर्मानुयायी थे। सभ्यता के विविध अङ्गों की पुष्टि और वृद्धि विविधवर्गीय जैनों ने उस युग में की थी। उस युग में लगी जैन संस्कृति की भारतीय समाज पर अमिट छाप आज भी लक्षित की जा सकती है। भारतीय सभ्यता को ही नहीं विश्व सभ्यता को उस युग में जैन संस्कृति ने अमूल्य भेंट प्रदान की है। उस युग में निर्मित विविध विषयक जैन साहित्य तथा कलात्मक रचनाएँ भारत की राष्ट्रीय निधि के अमूल्य रत्न हैं।

अतः वह युग यदि किसी सांस्कृतिक नाम से पुकारा जा सकता है तो वह जैन संस्कृति के नाम से ही। भारतीय इतिहास का वह लगभग 2000 वर्ष का युग सच्चा यथार्थ जैनयुग था, न बौद्ध न हिन्दु।

सन्दर्भ

1 Pre-Historic India P C Mitra, P 106, 2 Pargitor-Anci altIndian Historical tradition, Dr K. P Jayaswal, handarkar & c.

2 Studies in South Indian Jainism Pt. I P 12, by M S Rama Swami Ayangar & B Sheshagiri Rao & Introto Heart of Jainism P XIV—Mrs Sinclair

3 भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ 286 जयचन्द विद्या तथा A Political History of Ancient India P. 16–Dr H Ray Choudhry.

4 Political History of Ancient India P 47–Dr. H C Raychoudhry

5 Intro to Jaina Bibliography–Dr Guerinor, Camb History of India (The History of the Jain) fol I, P 152-160, Intro to Uthradyayan P 21–Charpenter
6 भा इ की रूपरेखा पृ 287–जयचन्द्र विद्यालङ्कार।
7 Political Hist of Ancient India P 46–Dr H C Raychoudhry and भगवतीसूत्र
8 Kharvel's Inscriptions in the Orissa Caves
9 Ancient India P 27–by Dr T L Shah
10 Early Hist of India–V Smith, Asoka P 13–Dr R K Mukerjeee, etc
11 Dr H Jacobi–Intro to Jain Sutras P 62
12 The Early Faith of Asoka–Dr E, Thomas
13 Kharvel's Inscriptions of the Orissa Caves
14 Ancient India Its invasion by Alexander the Great–Mc. crindle
15 यह कर अशोक ने माफ किया बताया जाता है– देखो अशोक के गौण शिलालेख।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेमसि रज्जदि।
जेण मेत्ती पभावेज्ज तण्णाणं जिणसासणे।।

– 'जिसके कारण राग-द्वेष-काम-क्रोधादिक से विरक्तता प्राप्त हो, जिसके प्रताप से यह जीव अपने कल्याण के मार्ग में लग जाय और जिसके प्रभाव से सर्व प्राणियों में इसका मैत्री भाव व्याप्त हो जाए वही ज्ञान जिनशासन को मान्य अथवा उसके द्वारा अभिवंदनीय है।'

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक	:	मूल जैन-संस्कृति : अपरिग्रह
लेखक	:	पं. पद्मचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक	:	वीर सेवा मन्दिर, 21 अनसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
पृष्ठ	:	48
संस्करण	:	तीसरा
मूल्य	:	स्वाध्याय

पुस्तक का 2005 में प्रकाशित तीसरा संस्करण हमारे हाथ में है। लेखक बहुश्रुत विद्वान् तथा दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रति निष्ठावान् हैं। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर पश्चात्वर्ती अनेक महान् मनीषी आचार्यो के धवला आदि अनेक ग्रन्थों का आलोडन, मन्थन करके सिद्ध किया है कि जैन-संस्कृति अपरिग्रहमूलक है। पाँच व्रतों में सबसे महत्त्वपूर्ण सर्वोच्च व्रत अपरिग्रह ही जैनधर्म या संस्कृति की पहचान या लक्षण है। पॉच व्रतों के क्रम में अपरिग्रह पाँचवा अवश्य है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह गौण या निम्नस्तर पर है। इसे यों भी समझ सकते हैं कि प्राथमिक शाला का छात्र धीरे-धीरे ऊपर उठकर अंतिम सीढ़ी पर पहुँचता है, सर्वोच्च उपाधि ग्रहण करता है, तो प्राथमिकता अपने आप गौण या अनुपयोगी हो जाती है। इस प्रकार जैन संस्कृति या दिगम्बरत्व का मूल आधार सम्पूर्णतया अकिंचन स्थिति तक का अपरिग्रह ही है और वही उसका लक्षण या चिन्ह है।

आगम सम्मत गाथाओं तथा सूत्रों के अनुसार विद्वान् लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि पापों या दोषों से विरति ही व्रत है। अहिंसा-सत्य-अचौर्य-शील का व्रत कैसे लिया जा सकता है? ये तो सामाजिक जीवन तथा सदाचार के नैतिक मूल्य हैं जो व्यक्ति की शक्ति, सामर्थ्य, भावना तथा संस्कारों पर निर्भर

हैं। अतः हिंसा आदि पापों से विरत होना ही व्रत है और सुसंगत है। व्रत ग्रहण करने की परम्परा या धारणा शास्त्र सम्मत प्रतीत नहीं होती। दस धर्म, बारह भावनाएँ, सप्त व्यसनों का त्याग, सुभाषित, उपदेश आदि के विधान तो नैतिक अर्थात् सामाजिक सदाचार परक हैं।

यह भी ध्यान में रखने की बात है कि अहिंसा-सत्य आदि धर्म तो हैं, पर सिद्धान्त नहीं हैं—व्यक्ति और समष्टि सापेक्ष ही हैं। देश-काल-भाव-परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील हैं। लेखक ने सभी प्रकार की साधनाओं तथा क्रियाओं का मूल केन्द्र अपरिग्रह ही तर्कशुद्ध शैली में प्रतिपादित किया है।

जब जैन संस्कृति का मूल आधार अपरिग्रह है, तब अपरिग्रह को एक किनारे रखकर परिग्रह के प्रति इतना अधिक आकर्षण और लगाव कैसे बढ़ता गया? और सुख भोग की दृष्टि से अहिंसा आदि नैतिक गुणों को परमधर्म मानकर संग्रह प्रियता को पुण्य का परिणाम मान लिया गया? लेखक कहते हैं "हमारी भूल रही है कि हम अन्य व्रत आदि क्रियाओं को जैनत्व का रूप देने में आसक्त रहे हैं और अपरिग्रह की आसक्ति से नाता तोड़े हुए हैं।... वर्तमान में अहिंसा-सत्य-अचौर्य और ब्रह्मचर्य की जैसी धुंधली परिपाटी प्रचलित है, उसमें यदि सुधार आ जाए तो लौकिक मानव बना जा सकता है।"

तप-त्याग एवं अपरिग्रह की अवधारणा निवृत्तिमूलक चिन्तन की देन है। प्रवृत्ति-निवृत्ति, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, आत्मा-अनात्मा, सम्यक्-मिथ्या, कर्म-अकर्म, शुद्ध-अशुद्ध, सत्य-मिथ्या आदि के द्वन्द्वों से हमें दार्शनिकों तथा चिन्तनशील मनीषियों ने बौद्धिक व्यायाम द्वारा उलझन में या असमंजस में डाल दिया है। परिणाम ये है कि सत्ता-सम्पत्ति और शस्त्र की आकांक्षा और होड़ तो बढ़ गयी, पर हमारा मानस संवदेन शून्य हो गया मानवीय निष्ठा लुप्त हो गयी और संग्रह के बल पर 'समाज और देश' व जाति सम्प्रदाय, धर्म, अध्यात्म, भाषा, क्रियाकांड आदि के घेरों में अंह को पुष्ट करते हुए ऐसा सिद्धान्त गढ़ लिया कि संसार में सारा सुख-दुःख कर्माधीन है। कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता सब क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार भोगना पड़ता है।

सर्वज्ञवाद ने तो हमारी प्रगति ही अवरुद्ध कर दी! मै सोचता हूँ कि क्या कभी किसी तीर्थंकर तथागत या अवतार ने कहा था कि मेरे बाद ऐसा कोई नहीं होगा? और क्या वे स्वयं अपने आपको सर्वज्ञाता कह सकते थे? पर यदि हम अपनी बुद्धि और विचारशक्ति को ग्रंथों में आबद्ध कर लें तो विकास कैसे संभव है?

यह सही है कि बहुश्रुत लेखक ने धर्मनिष्ठा तथा सत्यनिष्ठा के आधार पर अपने विचार प्रकट किये हैं, किन्तु वे यह भी जानते हैं कि आज विश्व की अनेक मुखी परिस्थितियों ने इतनी करवट ले ली है कि भारत में सोया हुआ व्यक्ति अमेरिका में करवट बदलकर जागता है। सारा विश्व समृद्धि और शक्ति-संचय की ओर दौड़ रहा है। सुदूर ग्रहों पर भी सत्तासीन होने के प्रयास चल रहे हैं। धर्म, सिद्धान्त और परम्पराएँ विज्ञान की खोजों और उपलब्धियों के आगे महत्त्वहीन या अनुपयोगी साबित हो रही हैं। अध्यात्मक तथा तप-त्याग की, कायक्लेश की साधना में रत साधुवर्ग भी मन हो मन आकांक्षी है कि स्वर्ग का सुख भोगने को मिले! विज्ञान की खोजों ने हमारे सारे सिद्धान्तों पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा दी है। स्वर्ग-मोक्ष, कर्म-सिद्धान्त, आयुर्विज्ञान सब बीते युग की बातें रह गयी हैं।

यह माना कि अपरिग्रह या आंकिचन्य की अवधारणा व्यक्ति के आत्मकल्याण की दृष्टि से, सन्तोष धारण करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, पर क्या इससे राष्ट्रीय समृद्धि और शक्ति में सहायता मिल सकती है? 'छोड़ सकल जग दंद-फंद निज आतम ध्यावो' के उपदेश को आज किस आसन पर बैठा सकते हैं। मनुष्य आज जिस विश्व में सांस ले रहा है, उसके सपने दूसरे ही है। हमें सोचना होगा कि आखिर इन त्यागपूर्ण उपदेशों और आचार-विचारों के कारण देश की गरीबी, आंकाक्षा, बेकारी, अस्वास्थ्य में विगत हजारों वर्षो में कितनी कमी आयी? और क्या आ सकती है। कहीं न कहीं हमारी समाज रचना में, धर्म चिन्तन में चूक रही है। हमें ग्रंथ, पंथ और संत की घेरे बंदी से बाहर निकलकर अपनी स्वायत्त बुद्धि निष्ठा का उपयोग करना ही होगा। अध्यात्म को समाज सेवा परक रूप देना होगा।

पुस्तक छोटी सी है, विचार प्रेरणा दायी हैं, संस्कृति के मूल तत्व को समझने मे सहायक है। लेकिन यदि वे सीधी-सरल भाषा में अपने विचार रखते तो आम पाठक को अधिक सुविधा होती। मैं ऐसे दो चार वाक्य या अंश उद्धृत कर सकता था, जो कि मेरी समझ मे भी नहीं आ रहे थे। सरल भाषा का अपना महत्त्व है, यह सभी जानते है। प्रिय भाई डा. कमलेशकुमार के द्वारा पुस्तक पढ़ने को मिली, अतः यह लिखने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

समीक्षक —जमनालाल जैन
सारनाथ (वाराणसी)

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।।

— 'जिन्होंने अपने दोषों की शान्ति करके अर्थात् पूर्ण निवृत्ति करके पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और (इसलिये) जो शरणगतों के लिये शान्ति के विधाता हैं वे भगवान शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—शरणभूत हैं। अतः मेरे संसार परिभ्रमण की, क्लेशों की और भयों की उपशान्ति के लिये निमित्तभूत होवें।'

आदर्श सम्पादक : श्री अजित प्रसाद

— संजीव 'ललित'

पलकों से तूफान उठाया जा सकता है।
मौन रहके भी शोर मचाया जा सकता है।।

पत्रकारिता के माध्यम से समाज जागृति की मौन क्रांति का शंखनाद करने वाले **'शोधादर्श'** के सम्पादक **श्री अजित प्रसाद** जी अब हमारे बीच नहीं रहे यह विचार केवल उन लोगों का हो सकता है जो उन्हें औदारिक शरीर मात्र से जानते थे। मेरे अनुसार वे अब भी हैं और उनके द्वारा धर्म प्रभावना, समाज *जागृति के लिए दिए गए विचारों से वह सदैव यशस्वी शरीर से जीवित रहेंगे।*

1 जनवरी 1918 को मेरठ में बाबू पारसदास जी के घर जन्मे श्री अजित प्रसाद जी ने संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की है। आप 1938 में उ. प्र. की लोक सेवा आयोग द्वारा प्रथम बैच में सचिवालय सेवा परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

आपके अग्रज भ्राता इतिहास मनीषी डॉ. ज्योति प्रसाद जैन की वात्सल्य पूर्ण शिक्षा ने आपके पत्रकारिता के गुणों को विकसित करने में उर्वरक का काम किया। जिससे आप एक सुलझे हुए पत्रकार बन गये। डॉ. ज्योतिप्रसाद जी के पश्चात् 'शोधादर्श' पत्रिका को आपने अपनी लगन, कठिन परिश्रम एवं सेवाभाव से आज तक नामानुरूप शोध के लिए आदर्श बनाए रखा। सम्पूर्ण साहित्यक क्षेत्र व जैन समाज आपकी इस सेवा से चिरकाल गौरवान्वित एवं लाभान्वित हुआ है। पत्रिका के सम्पादन दायित्व को बखूबी निभाते हुए अनुसंधान के नए-नए आयाम खोजना आपकी विशेषता रही।

अपने विचारों की तर्क पूर्ण एवं आगम के परिप्रेक्ष्य में विवेचना आप जिस निर्भयता से करते रहे वैसे निर्भीक, सजग सम्पादक अब समाज में उंगलियों

पर गिनने लायक बचे हैं। आपने मान-अपमान आदि की परवाह न करते हुए समाज मार्ग च्युत न हो जाए इसके लिए अंतिम श्वास तक प्रयत्न किया।

मैंने अजित प्रसाद जी को साक्षात देखा तो नहीं पर पं. पद्मचन्द्र जी शास्त्री एवं श्री महावीर प्रसाद जी सर्राफ 'शाकाहार प्रचारक' को लिखे गए उनके पत्र पढ़ने का सौभाग्य मुझे गत वर्षो से मिलता रहा है। वीर सेवा मंदिर में कार्यरत होने से श्री अजितप्रसाद जी के पत्र पंडित पद्मचन्द्र जी को पढ़कर सुनाता रहा हूँ तथा श्री महावीर प्रसाद जी भी आपका पत्र आने पर दूरभाष या पत्र के माध्यम से सूचित कर देते थे। आपने पंडित पद्मचन्द्र जी के अनेकान्त 55/3 में छपे 'भरतक्षेत्र के सीमन्धर आचार्य कुन्दकुन्द' लेख की समीक्षा करते हुए पत्र में लिखा था कि–

"आपने सीमन्धर शब्द की व्याख्या एवं श्री कुन्दकुन्द के विदेह गमन की अनुश्रुति का खंडन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। पर मेरी मान्यता है कि कुन्दकुन्द पद्मनन्दि से भिन्न आचार्य थे।" आपके पत्रों में विशेषता यह रहती थी कि आप अपने एवं जिसको पत्र लिखा है उसके बारे में बहुत कम लिखकर दिगम्बर आगम के साथ हो रही अवमानना एवं समाज के जैनत्व से गिरते स्तर पर चिंता एवं उसके समाधान को विस्तार से लिखते थे। इन सब अनुभवों एवं शोधादर्श में छपी उनकीं टिप्पणियों के पढ़ने पर मैं दृढ़ता से लिख सकता हूँ कि वे तर्क पूर्ण मनीषा के स्वामी थे, वे उच्चारण से उच्च आचरण को अधिक महत्त्व देते थे, धर्म के नाम पर कोरी आडम्बरता उन्हें पसन्द नहीं थी, सत्य के उद्भावन से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया।

श्री अजित प्रसाद जी के लेखों के कुछ अंशो का उद्धरण मैं यहाँ अनेकान्त के पाठकों को इस आशा से दे रहा हूँ कि जिन पाठकों ने श्री अजित प्रसादजी को देखा, सुना, पढ़ा नहीं है वह भी उनके बहुआयामी व्यक्तित्व से परिचित होकर उनके विचारों का लाभ अवश्य उठाऐंगे।

आप एक सफल पत्रकार रहे हैं– 20 अप्रैल 03 को नई दिल्ली में अहिंसा इंटरनेशनल द्वारा प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार प्राप्त करते हुए उन्होंने

अपने हृदय की वेदना व्यक्त करते हुए पत्रकार एवं पत्रिका के विषय में भाषण दिया था। आपने खेद के साथ कहा कि इस समय सम्पूर्ण जैन समाज में लगभग 200 पत्रिकायें छपती हैं अकेले दिगम्बर जैन समाज में छपने वाली पत्रिकाओं की संख्या लगभग 100 है। पर विचारिए पत्रिका की परिभाषा—"उत्तरदायित्व, अपनी स्वतंत्रता, सभी दबाबों से परे रहना, सत्यता प्रकट करना, निष्पक्षता, समान व्यवहार एवं समान आचरण" की कसौटी पर आज की कितनी पत्रिकायें खरीं उतर सकती हैं। हमारे कितने पत्रकार, लेखक भाई पत्रकारिता के इन कर्तव्यों का निर्वाह कर पा रहे हैं। अधिकांश पत्रिकायें तो व्यक्ति या पक्ष विशेष की प्रशंसाओं से ही भरी रहती हैं।

श्री अजित प्रसाद जी जैन दर्शन, जैन सिद्धान्त के अच्छे जानकार थे। जैन दर्शन के जानकार होने से ही आपकी लेखनी केवल सामाजिक विषयों.तक सीमित न होकर दर्शन क्षेत्र के गूढ़ रहस्योदघाटन में भी सफल रही। शोधादर्श के नवम्बर 2001 के अंक में आपने पार्श्वगिरि पर आचार्य प्रतिमाओं की स्थापना के समाचार मिलने पर लिखा था कि— आचार्यो/मुनियों की तदाकार प्रतिमाओं की विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा कर जिन मंदिर में विराजमान करना बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की ही देन है। इन साधु प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा के क्या अर्थ हैं, हम जैसे अल्पज्ञों की सामान्य बुद्धि के लिए अगम्य है।

शोधादर्श नवम्बर 2002 के सम्पादकीय—'मंगलम् पुष्पदंताद्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्' में आपके व्यंगात्मक शैली में लिखे गए सजग दूरदर्शी विचार सभ्य समाज की रक्षा के लिए सजग प्रहरी के समान हैं। मार्च 2002 के अंक में आपने विद्वत् परिषद के विखराव की व्यथा भी लिखी थी। आप धर्म परायण थे अतः आप आगम के मूल रूप में छद्म परिवर्तन करने वालों से समाज को सजग करने का अपना कर्तव्य आखिर तक निर्वहन करते रहे।

श्री अजित प्रसाद जी सच्चे मुनि भक्त थे। आप केवल आगमानुकूल चर्यारत गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते थे। आपकी स्पष्ट मान्यता थी कि समाज सुधार धर्मगुरुओं के माध्यम से ही हो सकता है। समाज सुधार में धर्मगुरुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो लेख में आपने लिखा है कि— आज

अकेले दिगम्बर जैन आम्नाय में पिच्छीधारी धर्मगुरुओ/गुरुणियों की संख्या 500 के लगभग होगी तथा उनके अकेले चातुर्मास काल पर ही समाज का अरबों व्यय हो जाता है। हमें धर्म प्रभावना के नाम से किए गए किसी भी आयोजन पर कोई आपत्ति नही है, यद्यपि वैभवपूर्ण प्रदर्शनों से समाज का कोई भला नहीं होता। वृहद् क्रिया काण्ड भी जैन धर्म की मूल भावना से मेल नहीं खाते।

हमारे धर्मगुरू/गुरुणियां जिनके प्रति समाज में अत्यन्त श्रद्धा व सम्मान है कुछ समाज सुधार की ओर भी ध्यान दें तो उनका समाज पर स्थायी उपकार रहेगा। जैसा कुछ मुनि श्रावकों को दिन में विवाह करवाने, विवाह में अपव्यय न करने, दहेज कुप्रथा का विरोध करने आदि का उपदेश अपने प्रवचनों में देकर कर रहे हैं।

प्रकाण्ड तर्कणा शक्ति के धनी श्री अजित प्रसाद जी का जीवन सादा एवं सरल था। वे दिखावे में विश्वास नहीं रखते थे। आपने देश, समाज से अल्प लेकर बहुत अधिक दिया है। आप उत्तम कोटि के पुरुष थे। कविवर बुधजन की ये पंक्तियां आप पर बिल्कुल सटीक बैठती हैं–

अलप थकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय।
दूध झरै तृण को चरै, ज्यों गोकुल की गाय।।

आपने शोधादर्श जुलाई 2004 के अंक में 'मेरी अन्तिम अभिलाषा' शीर्षक से लिखा है– "मेरी एक ही अन्तिम अभिलाषा है। मैंने अपने धर्म और समाज से बहुत कुछ सीखा और पाया है। उनके उपकार से मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। मेरी यही एक अभिलाषा है कि जिनेन्द्र देव की अनुकम्पा से मुझमें इतनी शक्ति बनी रहे कि मै अन्तिम श्वास तक धर्म व समाज की कुछ न कुछ सेवा कर सकूं तथा यदि मेरे किसी सुकृत्य के फलस्वरूप मुझे पुनः नरभव प्राप्त हो तो मेरा जन्म जैन धर्म व जैन समाज में ही हो।"

श्री अजित प्रसाद जी जैसे व्यक्तित्व को खोना जैन समाज से अमूल्य रत्न छिन जाना है। आपने जीवनकाल में साहित्य एवं समाज की जो अनवरत सेवा

की है उससे साहित्य वर्ग एवं समाज वर्ग कभी उऋण नहीं हो सकता। समाज पत्रिकाओं में उनके स्वर्गवास पर खेद प्रकट करने तक अपनी श्रद्धांजलि सीमित न रखे वरन उनके द्वारा साहित्य के क्षेत्र में दिए गए योगदान को प्रकाशित करवाकर ही इतने बड़े व्यक्तित्व को एक छोटी सी श्रद्धांजलि दे सकता है। समाज की ओर से यही एक सच्ची श्रद्धांजलि होगी जिससे आने वाली पीढ़ी उनके व्यक्तित्व एवं वृहद् कृतित्व से प्रेरणा ले सकेगी।

वीर सेवा मंदिर से प्रकाशित 'अनेकान्त' पत्रिका में भी आपके तथ्यपरक आगम सम्मत दार्शनिक एंव पुरातात्त्विक लेख छपते रहे हैं। आपके कठिन परिश्रम एवं निर्भीकता से लिखे गए यह लेख शोध विद्यार्थियों एवं दर्शन, पुरातत्त्व के जिज्ञासुओं को दिशाबोध प्रदान करने वाले हैं।

वीर सेवा मंदिर परिवार इस महान् व्यक्तित्व के दिवंगत होने पर स्तब्ध है। श्री अजित प्रसाद जी द्वारा जैन धर्म, जैन समाज को दिए गए योगदान को नमन करता है। आशा है कि श्री रमाकान्त जी, श्री शशिकान्त जी आपके द्वारा किए गए कार्यों को गति प्रदान करेंगे।

सहायक विद्वान-वीर सेवा मंदिर
4674/21 दरियागंज, नई दिल्ली-110002